- नानेश वाणी – 26
  प्रवचन-पीयूष

- आचार्य श्री नानेश

- सस्करण जनवरी, 2003 1100 प्रतिया

- मूल्य 30/–

- अर्थ सहयोगी राजेश कुमार बोहरा, बैगलोर

- प्रकाशक
  श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज)
  फोन 2544867, फैक्स 0151 2203150

- मुद्रक
  कल्याणी प्रिण्टर्स
  अलख सागर रोड, बीकानेर
  दूरभाष 0151–2526890

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियो में है जिन्होने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माए अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानो मे वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व मे समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप मे उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सासारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मिया युगों–युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यकता है कि न तो उन साहित्य रश्मियो को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनो हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को 'नानेश वाणी' पुस्तक श्रृखला के अर्न्तगत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस सदर्भ मे बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ सबधी व्यवस्था मे जो सद्प्रयत्न किया वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व मे प्रवचन–पीयूष नाम से प्रकाशित पुस्तक की नयी आवृत्ति है। इसमें कुछ सशोधन परिसस्करण भी हुआ है। इसके सम्पादक श्री शान्तिचन्द्र मेहता के अथक परिश्रम के साथ–साथ इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री राजेश कुमार जी सुपुत्र स्व श्री मोहनराज जी बोहरा बैंगलोर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हू।

यद्यपि सम्पादन–प्रकाशन मे पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमे अवगत करायें ताकि आगामी सस्करणो में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शातिलाल सांड

सयोजक साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ भा सा जैन सघ समता भवन–बीकानेर।

अर्थ सहयोगी परिचय

विगत शताब्दी के शीर्ष अध्यात्म-सन्त आचार्य श्री नानेश की प्रस्तुत कृति 'प्रवचन-पीयूष (२६)' का प्रकाशन सरल स्वभावी, धर्मप्रेमी, समाजसेवी, अनन्य गुरुभक्त श्रीमान मोहनराजजी बोहरा आत्मज श्री प्रेमराजजी की पुण्य स्मृति में इनके सुपुत्र श्री राजेशकुमारजी बोहरा के अर्थ सौजन्य से हुआ है।

४ अक्टूबर, १६१६ को पिपलिया कला (राजस्थान) में जन्मे श्री मोहनराजजी का बचपन विल्लिपुरम् (तमिलनाडु) में बीता और वहीं पढाई-लिखाई भी हुई। अपने अग्रज भ्राता श्री गणपतराजजी व अनुज भ्राता श्री सम्पतराजजी व परिजनों के स्नेहवर्षण से आपने व्यावसायिक कुशलता अर्जित की एव अथक लगन, श्रमनिष्ठा से निरन्तर प्रगति पथ पर बढते रहे। २० वर्ष की आयु में धर्मशीला मिरियाबाई से आपका पाणिग्रहण हुआ, जो इन्हें सभी कार्यों में प्रत्यक्ष व परोक्ष सहायता करती थी।

अनेक स्थानों के भ्रमण एव विभिन्न व्यापार करने के पश्चात् आपने गुजरात में अपना व्यापार प्रारम्भ किया तथा १६६५ में बैंगलोर में "मोहन एल्युमिनियम प्रा लि" नाम से लघु उत्पादन इकाई की स्थापना की। अनवरत सफलता अर्जित करते हुए आपने कम्पनियों के समूह "प्रेम समूह" के रूप में औद्योगिक जगत में पृथक् प्रतिष्ठा प्राप्त की। साथ ही समाज सेवा में भी पूर्ण योगदान देते रहे।

आप आचार्य श्री नानेश के अनन्य भक्त थे एव उनके नियमों को अगीकृत कर तन, मन, धन से साधु-साध्वियों की अन्तिम क्षण तक सेवाए की। बैंगलोर में भगवान महावीर जैन अस्पताल, भगवान महावीर जैन कॉलेज की

स्थापना में अहम् भूमिका का निर्वहन, १६७० में भीषण सूखे के समय बीजापुर (कर्नाटक) में सूखा पीडितों को नि शुल्क भोजन उपलब्ध कराना, उनके पुनरुत्थान में हर प्रकार से सहयोग, हजारों लोगों के मोतियाबिन्द के नि शुल्क ऑप्रेशन कराना, गरीबों की प्रत्यक्ष-परोक्ष सहायता तथा १६६० में पिपलिया कला में आचार्य श्री नानेश का ऐतिहासिक चातुर्मास जैसी उपलब्धियों के कारण श्रीमान बोहरा सा चिर स्मरणीय रहेंगे। ७ नवम्बर, १६६२ को आपका स्वर्गवास हो गया, जो सामाजिक, धार्मिक, व्यावसायिक क्षेत्रों की अपूरणीय क्षति है।

आपके सुपुत्र श्री राजेशकुमारजी भी अपनी अर्द्धांगिनी मीनाजी के साथ अपने पितृश्री के पदचिन्हों पर चलकर उनके कार्यों को आगे बढा रहे हैं। आप आगम मर्मज्ञ, प्रशान्तमना, श्रीवाल प्रतिबोधक परम श्रद्धेय आचार्य श्री रामलालजी म सा के प्रति अटूट श्रद्धानिष्ठ हैं व शासन सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं। आपने व्यावसायिक क्षेत्र में नवीन ऊँचाइयों को हस्तगत किया है तो सघ व समाज को भी सक्रिय सहयोग प्रदान करते रहते हैं।

पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत कृति पाठकों को आत्म-साक्षात्कार करने व चेतना के ऊर्ध्वारोहण में सहायक सिद्ध होगी और बोहरा परिवार का सत् साहित्य प्रकाशन व सघ उन्नयन में निरन्तर उदार योगदान मिलता रहेगा।

उदय नागोरी

अनुक्रमणिका

1	अपरिग्रह का चारित्रिक महत्त्व	1
2	सबको अपने समान जानो।	9
3	स्वकीय शक्ति की पहिचान।	16
4	ससार का मूल कहा है?	23
5	मन की गहरी एकाग्रता	30
6	ममता की मार . समता का सुख	38
7	आराधना का माध्यम शरीर	46
8	दान ममत्व-त्याग का सोपान	53
9	विमल विज्ञान की कला	61
10	सबसे ऊपर गुणों की गरिमा	68
11	जैसा करोगे, वैसा फल पाओगे।	75
12	अपनी आलोचना के अमूल्य क्षण	83
13	शुभ भावों की सुरक्षा	90
14	पुण्य का प्रभाव और परिणाम	97
15	भावना और आचरण का मेल	105
16	विद्या को फलवती बनावें	113
17	आत्मिक अनुशासन का मूल्य	122
18	दु ख का हेतु अपने ही भीतर	130
19	आचरण की प्रधानता	138
20	आचार-शिथिलता और क्राति	146
21	अपनी आलोचना अपनी आवाज	152
22	निर्लिप्तता का मार्ग	159
23	धर्म-क्षेत्र में शौर्य	166
24	आश्रवं तत्त्व क्या है?	174
25	अक्षर अनश्वर होता है।	181

1

अपरिग्रह का चारित्रिक महत्त्व

श्री जिन अजित नमू जयकारी,
तू देवन को देव जी ।

प्रभु अजितनाथ के चरणो मे कवि की भावना व्यक्त हो रही है कि हे अजितनाथ प्रभु, आप देवो के भी देव हैं। आप जानते हैं कि चौरासी लाख योनियो मे एक देव–योनि भी है। देव–योनि मे भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक आदि देव जातियो का विशद् वर्णन आया है। उन देवो के भी जो देव हैं, वे तीर्थंकर देव हैं, जो देवो के लिये भी वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं तथा आदर-सत्कार करने के योग्य हैं। ऐसे देवो के देव प्रभु अजितनाथ हैं, जिन्हे मैं नमस्कार करता हू।

नमस्कार की आन्तरिकता

यह नमस्कार देवो के देव के प्रति है, देवो के प्रति नही क्योकि देव योनि मे रहने वाले देव भी एक प्रकार से सासारिक व्यक्तियो जैसे ही हैं। उनसे कभी सम्पर्क होता है तो सासारिक कार्यों के लिये ही सम्बन्ध जुडता है। नमस्कार की आन्तरिकता तो आत्मा की सम्यक् दृष्टि के साथ जुडी हुई होती है। सम्यक् दृष्टि वाली आत्मा की सर्वोच्च कामना मोक्ष की प्राप्ति होती हे तथा उसकी दृष्टि से नमस्कार सिद्ध देवाधिदेव को ही किया जाता है।

आत्मा का परम लक्ष्य माना गया है अपने मूल गुणो को विशुद्धतम स्वरूप मे प्रकट करना एव सिद्ध देवाधिदेव की श्रेणी मे स्वय भी पहुच जाना। इस लक्ष्य की ओर गति करने के लिये जिस आदर्श की आवश्यकता होती है वही आदर्श प्रभु अजितनाथ है। वे ससारी आत्माओ के लिये विशिष्ट तेज–पुज हैं । तेजोमय जीवन के प्रति ही सम्यक् दृष्टि आत्मा का सर्वाधिक आकर्षण होता है। उन्ही के प्रति वह अपना सब-कुछ समर्पित कर देना चाहती है ओर नमस्कार उस सर्व-समर्पण का आरंभमात्र होता है।

विकारग्रस्त संसार एवं मोक्षमार्ग

ससार के प्राणी प्रपचो की स्थितियो मे उलझे रहते हैं तथा विकारो मे फसे रहते हैं। उनके जीवन मे सिद्धान्त एव साधना की परिपूर्णता नहीं वन पाती है। इस परिपूर्णता के विना कोई आदर्श नहीं वन सकता। विकारग्रस्त प्राणी अगर विकारी व्यक्ति के सामने पहुँचेगा तो वह यह समझ कर कि वह भी मेरे ही जैसा है, उसके प्रति आदरभाव नही वना सकेगा। आदरभाव उन्हीं के प्रति बनता है जो आदर करने वाले की तुलना मे विशिष्ट जीवन वाले होते हैं, अजेय आत्मिक शक्ति के धनी वन जाते हैं।

आत्मा को अजेय शक्ति कैसे प्राप्त होगी– इसका स्पष्ट सकेत तीर्थंकरो की वाणी मे मिलता है। तीर्थंकरो की वाणी मौलिक तत्त्व रूप मे एक है। इस वाणी मे ही प्रभु को प्राप्त करने के लिये स्तुति भी चारित्र के माध्यम से होती है। मोक्ष- प्राप्ति के मार्ग मे भी इसी चारित्र को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है। श्रीमद् उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र मे मोक्षमार्ग का इस सूत्र मे उल्लेख किया है–

सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की साधना से मोक्ष की मजिल तक पहुँचा जा सकता है। इस चारित्र–स्वरूप आत्मा का जहा मूल स्वरूप प्रकट होता है, वहा उसकी पृष्ठ–भूमि का चारित्र–दर्शन होता है। सच्चारित्र के विकास रूप मे आत्मा के विकार दूर होते हैं तो दुश्चारित्र के आने पर आत्मा विकारो के दलदल मे फसती जाती है। ससार के अन्दर जो आत्माए अधोगति की ओर जा रही हैं, वे भी चारित्रवान् हैं, लेकिन उनका चारित्र दुश्चारित्र है। इस दुश्चारित्र को जीवन से दूर हटाकर सद्चारित्र प्रकट करना भव्य आत्माओ का काम है। भव्य आत्माए जब मोक्षमार्ग पर अग्रसर बनती हैं, तब भव्य चारित्र का निर्माण होता है।

सच्चारित्र का पांचवां स्तम्भ

इस चारित्र रूपी आत्मा के स्वभाव का वर्णन आपके सामने शास्त्रीय गाथा के अनुसार वर्णित किया जा रहा है। आत्मा का लक्षण चारित्र भी माना गया है। इस शास्त्रीय गाथा मे आत्मा के सच्चारित्र के जो स्तभ–समान गुण बतलाये गये हें, उनमे पाचवा स्तभ–स्वरूप जो गुण बताया गया है, वह है अपरिग्रह।

परिग्रह की स्थिति ससार के सामने विचित्र ढग से आती है। परिग्रह की कई तरह से व्याख्या की जाती है। पहले शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से

परिग्रह को समझने की चेष्टा करे। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है– 'परि ग्रह्यते इति परिग्रह । जो चारो ओर से ग्रहण किया जाए– उसे परिग्रह कहते हैं। 'चारो ओर से' का क्या तात्पर्य लिया जाए? 'चारो ओर से' का तात्पर्य है आत्मा के समस्त प्रदेशो से। सब प्रदेश कर्म को ग्रहण करते हैं, वे भी शब्द–व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिग्रह की परिभाषा मे आ सकते हैं।

ससारी आत्मा शरीर ग्रहण करती है– शरीर ग्रहण करने के कारण भोजन ग्रहण करती है अथवा शरीर से सम्बन्धित अन्य पदार्थों को भी ग्रहण करती है। शरीर से सम्बन्धित जितने भी ससार के पदार्थ हैं और जब वे ग्रहण किये जाते हैं तो वे परिग्रह की कोटि मे आ जाते हैं। परिग्रह से विमुख होने मे अपरिग्रह का विकास होता है।

परिग्रही क्यो : निष्परिग्रही कैसे?

परिग्रह शब्द का अर्थ सिर्फ व्युत्पत्ति की स्थिति से ही लिया जाता हो तथा दूसरे तरीको से नही लिया जाता हो– ऐसी बात नहीं है। कभी–कभी शास्त्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी शब्द का अर्थ करते हैं तो कभी पारिभाषिक रूप से भी अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है। परिग्रह के सदर्भ मे ही देखे तो व्युत्पत्ति से अर्थ लेने पर कोई भी आत्मा चौदहवे गुणस्थान तक पहुच कर भी शरीरधारण की दृष्टि से निष्परिग्रही नही बन सकती है। क्योकि जहा तेरहवे गुणस्थान मे केवली भगवान् विराजमान हैं वे भी कर्मो को ग्रहण करते है– अधिक नही तो साता वेदनीय कर्मो को तो एक क्षण के लिये ग्रहण करते ही हैं। शरीर उस समय तक बना रहता हैं तो वे भोजन भी ग्रहण करते हैं। व्युत्पत्ति की एकान्त दृष्टि से कहे तो वहा भी परिग्रह की परिभाषा लागू होती है, जबकि वे परिग्रह को छोडते हैं। इसलिये शास्त्रकार सिद्धान्तो या लक्षणो का पारिभाषिक अर्थ भी स्पष्ट करते है।

पारिभाषिक दृष्टि से 'मुच्छा परिग्गहो', कह कर मूर्छा–ममता को परिग्रह बताया गया है। मूर्छा या ममता को परिग्रह मानते हैं तो छठे गुणस्थान से ऊपर की आत्माए भी निष्परिग्रही कहला सकती हैं। सयमी और साधक आत्माए शरीर ग्रहण करे, नियमित भोजन करे, लज्जा ढकने के लिये वस्त्र ग्रहण करे अथवा सयमित निर्वहन के लिये पात्रादि ग्रहण करे तो वह परिग्रह की परिभाषा मे नही आवेगा। साधु के लिये तीन तरह के पात्र बताये हैं– मिट्टी तुम्बी व काष्ठ के। साधु इन पात्रो को ग्रहण करता हुआ भी उन पर मूर्छा नही रखता है तो वह निष्परिग्रही की स्थिति मे पहुच जाता है। बाहर के इन सारे सयमी साधनों को ग्रहण करता हुआ भी वह मूर्छारहित होने से निष्परिग्रही

कहलाता है। इस दृष्टि से पाचवे गुणस्थान तक तो परिग्रह की स्थिति रहती है, किन्तु छठे गुणस्थान मे अपरिग्रही की स्थिति आ जाती है।

परिग्रह : भावना की तुला पर

मूर्छा को जो परिग्रह बताया गया है, उसकी मूल पृष्ठभूमि भावना से जुडी हुई है। परिग्रह एक प्रकार से पदार्थ रूप है तो मूर्छा की दृष्टि से भावना रूप है। समझने की बात यह है कि पदार्थ एव भावना मे प्रधानता किस की है? कल्पना करे कि एक व्यक्ति के पास पदार्थ रूप परिग्रह अमित मात्रा मे है, किन्तु उस पर उसकी मूर्छा नही है। दूसरा व्यक्ति ऐसा है जिस के पास पदार्थ रूप परिग्रह कम है किन्तु उस पर उसकी मूर्छा अधिक है तथा अधिक पदार्थ पाने की लालसा तीव्र है तो दोनो व्यक्तियो मे अधिक परिग्रही किसे कहेगे ?

आत्मा का विकास या पतन मुख्यत भावना पर आधारित माना गया है। भावना ही कार्य का कारण होती है। जैसी भावना, वैसा काम। भावना से ही मनुष्य किन्ही क्षणो मे अपना सर्वोच्च विकास साध लेता है तो भावना की दलितावस्था मे वह पतन के गहरे गड्ढे मे गिर जाता है। अत परिग्रह मे आत्मा की सलग्नता को भी भावना की तुला पर तौलना पडता है। इस दृष्टि से पहले व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति अधिक परिग्रही माना जायेगा, क्योकि परिग्रह की लालसा मे उसकी भावना बहुत ही चिकनी होती है। वास्तव मे भावना के कोण से ही परिग्रह के घनत्व का मापदड बाधा जाता है।

आसक्ति के धरातल पर : परिग्रहत्व का निर्णय

कभी–कभी भ्रातिवश कोई सोच लेता है कि ससारी आत्माओ के आलावा यदि साधु भी ग्रहण करता है तो वह भी परिग्रही होता है। किन्तु ऐसा सोचना शास्त्रीय दृष्टि से गलत है। आत्मा के अतिरिक्त सयमी जीवन के सहायक उपकरण भी ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु ममतारहित होने की दृष्टि से साधु जीवन की स्थिति निष्परिग्रही कही जा सकती है। गृहस्थ अवस्था मे रहने वाले व्यक्ति को वैसी स्थिति प्राप्त नही होती है। कारण, गृहस्थ अवस्था मे रहने वाला व्यक्ति अपने जीवन–निर्वहन के अतिरिक्त भी ग्रहण की अवस्था एव क्षमता मे होता है। दूसरे, गृहस्थ जीवन मे कई तरह की जिम्मेदारिया होती हैं। एक गृहस्थ के ऊपर स्वय की जिम्मेदारी के अलावा अपने-अपने स्तर से परिवार, समाज राष्ट्र आदि की विविध जिम्मेदारिया भी होती हैं। इन परिस्थितियो एव जिम्मेदारियो मे गृहस्थ के पास परिग्रह की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती हे। परिग्रह या परिग्रही भावना के अस्तित्व मे परिग्रह की आसक्ति से मुक्त हो पाना एक प्रकार से असभव ही माना जाएगा।

मूल रूप में परिग्रह के प्रति आसक्ति ही परिग्रही वृत्ति का निर्माण करती है। गृहस्थ जीवन में यह आसक्ति न्यूनाधिक अंशों में अवश्य बनी रहती है क्योंकि आसक्ति के समूल विनाश पर आत्मा साधु जीवन को अपना लेती है। गृहस्थ जीवन में आसक्ति का न्यून-अधिक होना व्यक्ति की ममत्व भावना पर निर्भर करता है। एक व्यक्ति गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ धन धान्य स्वर्ण आदि रखता है, लेकिन उन्हें रखता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं बनता है— मूर्छा भावना नहीं रखता है तो उसके परिग्रह की स्थिति कमजोर बन जाती है, किन्तु वह सर्वथा निष्परिग्रही नहीं हो सकता है। कभी यह सोचा जाए कि गृहस्थजीवन में रहता हुआ व्यक्ति सर्वथा निष्परिग्रही हो जाए, यह कठिन है। उस जीवन में यदि ऐसी उच्च भावना स्थायी रूप ले ले तो वह गृहस्थ नहीं रहेगा। अनासक्ति की अवस्था साधु जीवन में ही स्थायी रूप से टिक सकती है।

भरत महाराज : आसक्ति से अनासक्ति की ओर

भरत महाराज का जीवन इस संदर्भ में सामने आता है। कहते हैं कि भरत महाराज छः खंड का राज्य-भार वहन करते हुए भी निष्परिग्रही थे। उनकी आत्मा के साथ परिग्रह का भावनात्मक सम्बन्ध नहीं था। यह कथन सीमा से थोड़ा परे का है। यह कह सकते हैं कि अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा से वे परिग्रह से अधिक निर्लिप्त थे। उनकी पदार्थों के प्रति अत्यधिक आसक्ति नहीं थी। वे सर्वथा अनासक्त थे, यह कहना योग्य नहीं क्योंकि जिस समय उनकी आसक्ति पूर्ण रूप से हटी तो फिर वे राज्य या गृहस्थी में नहीं रहे। वह प्रसंग आया जब मुद्रिका उनकी अंगुली से नीचे गिर पड़ी, तब उनकी भावना आसक्ति से अनासक्ति की ओर प्रवाहित हुई तथा बड़ी तेजी से प्रवाहित हुई।

उन्होंने जब बिना अंगूठी के अपनी अंगुली को देखा तो अंगूठी से उनकी आसक्ति हटी। फिर वे एक-एक आभूषण और मूल्यवान वस्त्र उतारते चले गये। अनासक्त भावना उनकी आत्मा में इतनी तेजी और इतनी गहराई से उमड़ी कि चन्द क्षणों में ही वे परिपूर्ण एवं स्थायी रूप से निष्परिग्रही बन गये। अपरिग्रही भावना के कारण वे तुरन्त चौथे से सातवें गुण स्थान में पहुंच गये। फिर भावना का प्रवाह ऊंची से ऊंची श्रेणी में इस तरह बढ़ता गया कि वे सात, आठ, नौ, दस एवं बारह गुण स्थानों की सीढ़ियां पार करते हुए अन्तर्मुहूर्त समय में तेरहवें गुणस्थान में पहुंच कर केवलज्ञानी बन गये। उनका सर्वथा निस्तार हो गया। तब शरीर की स्थिति रही तथा चार घाती कर्म भी रहे पर वे जली हुई रस्सी की तरह रहे। पूर्ण अनासक्ति की अवस्था में वे फिर राज भवन में

नही बैठे रहे। जिस प्रकार की आन्तरिक भावना बनती है, उसी प्रकार का जीवन क्रम भी आवश्यक हो जाता है। भरत महाराज भी तब राज्य छोडकर केवली परिषद् मे सम्मिलित हो गये।

अपरिग्रह आत्मिक स्वभाव के साथ

अपरिग्रह आत्मिक स्वभाव के साथ सम्बन्धित होता है। जितनी अधिक आसक्ति, उतना ही अधिक परिग्रह एव उतनी ही आत्मा अपने स्वभाव से दूर हटती है। अनासक्ति की भावना जितनी गाढी बनेगी, आत्मा का अपरिग्रह के चारित्रिक लक्षण उतना ही अधिक उज्ज्वल रूप मे निखरता चला जाएगा। परिग्रह के प्रति मूर्छाभावना जब क्षीण होती है तो वहा सिर्फ शरीर के निर्वहन के लिये ही अन्न जल, वस्त्रादि पदार्थों को ग्रहण किया जाता है। एक प्रकार से मूर्छा भावना पर–पदार्थ मे आसक्ति है तथा इसी आसक्ति से लोभ पैदा होता है। लोभ को पाप का मूल बताया गया है। अत सब पापो का मूल मूर्छामय परिग्रह को कहा जा सकता है।

अपरिग्रह की ओर आगे बढाने का ही सिद्धान्त है ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त। प्राप्त परिग्रह का मैं ट्रस्टी मात्र हूँ– इस भावना से यदि मनुष्य अपने जीवन–व्यवहार मे चले तो उसकी परिग्रह के प्रति मूर्छाभावना घट सकती है। किन्तु मूर्छाभावना का सफल विनाश तो परिग्रह के परिपूर्ण त्याग से ही सभव हो सकेगा। तभी पूर्ण आत्मशुद्धि होगी एव आत्मा पूर्णत अपरिग्रही बनेगी। आत्मिक स्वभाव के निखार के साथ ही अपरिग्रही वृत्ति का भी विकास होता जाता है।

परिग्रह का त्याग लालसाओं का त्याग होना चाहिये

कभी–कभी इस परिग्रह की स्थिति का परित्याग कुछ विचित्र रूप मे उपस्थित होता है। एक व्यक्ति अपने पास के परिग्रह का त्याग करके दान देता है, मगर दान देने के पीछे उसकी यह भावना रहती है कि उस की नामवरी होगी तो क्या वह दान अपरिग्रह की स्थिति का निर्माण करता है? सचय की लालसा को तोडकर दान दिया, किन्तु उसके साथ ही कीर्ति की लालसा बना ली तो फिर परिग्रह कहा छूटा? मूर्छा का निवास लालसा मे रहता है, अत लालसाओ का त्याग हो तभी वहा परिग्रह का त्याग माना जाएगा। यदि दान देने वाला व्यक्ति कीर्ति की लालसा को भी अपने मन मे पैदा नही होने देता है तो उसका परिग्रह का त्याग सच्चा त्याग कहलायगा, फिर उसे उसका यश मिले, वह दूसरी बात होगी। उसका मन धन या यश दोनो की ममता से

परे हट जाएगा।

लालसाओ का, मूर्छा एव ममता का अन्त ही अपरिग्रहवाद है। यह ममता का ही चिह्न है कि जब तक किसी के पास स्थूल परिग्रह की मात्रा नही बढती, तब तक पारस्परिक आत्मीयता की भावनाए स्वस्थ रूप मे कार्यरत बनी रहती हैं, लेकिन परिग्रह का अधिक सचय उन स्वस्थ सम्बन्धो को तोड देता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि मानव–मन की तह मे परिग्रह के प्रति ममत्व सब से अधिक प्रबल होता है।

खून के रिश्ते और सबसे बड़ा रुपैया

आपके सासारिक जीवन एव व्यवहार पर परिग्रह इतने घनत्व के साथ छाया हुआ है कि खून के रिश्तो से भी ऊपर सबसे बडा रुपैया बना हुआ है। मा, बहिन, पत्नी सभी अपने बेटे, भाई, प्रति से भी पहले रुपया चाहते हैं– यह कैसी क्लिष्ट परिग्रही स्थिति है?

एक दृष्टान्त याद आ गया है। एक ही माता की कुक्षि से जन्म लेने वाले दो भाई थे। घर मे गरीबी थी, अत आत्मीयतापूर्ण वातावरण था। गरीबी से तग आकर दोनो भाई कमाने के लिये परदेश चले। वहा उन्होने अच्छी कमाई की तथा रुपयो की एक–एक नोली (थैली) भरकर अपनी–अपनी कमर से बाध ी और वापिस अपने गाव के लिये चल दिये। रास्ते मे विश्राम एव भोजन के लिये दोनो एक वृक्ष के नीचे ठहरे। एक भाई ने कहा कि मैं पास के गाव से खाने की चीजे ले आता हू, तब तक तुम मेरी थैली की भी निगरानी करना। अविश्वास का प्रश्न ही नहीं था। गाव की तरफ जाते–जाते उस भाई के मन में आसक्ति भाव ने बल पकडा। उसने सोचा कि मैं जहर मिलाकर मिठाई लाऊ और भाई को खिलाऊ तो दोनो थैलिया मुझे मिल जायेगी। वृक्ष के नीचे बैठे भाई ने सोचा कि ज्यो ही दूसरा भाई खाने की चीजे लेकर आवे, उस पर घातक वार कर दू ताकि दोनो थैलिया मेरी हो जाएगी। परिग्रह का मोह ऐसा ही विकारी होता है।

गाव से एक भाई जहर मिली मिठाई ले आया और दूसरा वार की ताक में रहा। वार करने वाला निशाना चूक गया तो वह बडा शर्मिन्दा हुआ तब दूसरे भाई ने भी अपना पाप खोल दिया। दोनो विचार करने लगे कि ऐसा विकार पैसे के कारण आया है। ऐसा सोचकर दोनो ने रुपयो की थैलिया नदी मे फेक दी और खाली हाथ घर लौट गये। परदेश से बडे दिनो में पहुचे थे सो उनके

आगत–स्वागत मे मा व बहिन जुट गई। बाजार से दो बडी मछलिया लाई गई क्योकि वे मछली का खाना अच्छा समझते थे। मछलियो को चीरा गया तो दोनो के पेट से दो रुपयो की थैलिया निकली। बहिन ने चुपचाप उन्हे छिपाना चाहा मगर मा को आहट हो गई। दोनो लडने लगी और आवेश–आवेश मे मा ने बेटी के मुह मे जलती लकडी खोस दी तो बेटी ने मा के पेट मे छुरी भोक दी। दोनो मर गई। तभी दोनो भाई बाजार से आये तो इस दृश्य को देखकर हक्के–बक्के रह गये। तुरन्त ही मामला उनकी समझ मे आ गया। वे सोचने लगे कि रुपयो से उनकी तो जान बच गई परन्तु उनकी मा और बहिन की जान चली ही गई। परिग्रह का ममत्व कितना हृदयहीन एव क्रूर हो जाता है।

सम्पूर्ण अपरिग्रह से ही आत्मिक चारित्र की उन्नति

परिग्रह पाप का मूल है, अत जितने अशो मे परिग्रह के प्रति ममता का परित्याग किया जाएगा, उतनी ही निष्परिग्रही वृत्ति पनपती जाएगी। इसलिये भगवान् ने कहा कि सम्पूर्ण अपरिग्रह से ही आत्मिक चारित्र की उन्नति हो सकेगी, अत जो साधु–सन्त गृहस्थाश्रम छोडकर निष्परिग्रही बनते हैं, उन्हे परिग्रह के प्रपचो से सर्वथा दूर हो जाना चाहिये। चाहे कोई कितना ही उकसावा दे कि महाराज, यह धर्मकार्य है, चन्दा–चिट्ठा करा दो, तब भी साध ु को अपना तटस्थभाव बनाये रखना चाहिये। यदि साधु भी ऐसे प्रपचो मे पडने लगे तो धीरे–धीरे वे भी परिग्रही होने लगेगे एव निर्ग्रंथ साधुत्व कलकित हो जाएगा।

अपरिग्रह की भवना तभी जन्म लेगी जब सन्त–परम्परा के अनुसार केवल शरीर के सयमी निर्वाह की दृष्टि से ही पदार्थों को ग्रहण किया जाएगा। परिग्रह से लिप्त नही होगे तो क्रूर कर्म नही करेगे और अपरिग्रह की भावना जीवन मे समा जाने के बाद आत्मिक चारित्र समुन्नत बन जाएगा।



2

सबको अपने समान जानो!

श्री सुविधि जिनेश्वर वदिये हो
ज्ञानावरणीय हो, दर्शनावरणीय हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान दर्शन बल ये तिहू हो, प्रकट्या अनन्तानन्त।।

प्रभु के चरणो मे वन्दन का फल अनन्त आत्मिक शक्तियो की उपलब्धि के रूप मे बताया गया है। जब शुद्ध अन्त करणपूर्वक कर्म मैल को धोने का लक्ष्य बनाकर वन्दन किया जाता है तो वैसे वन्दन के फलस्वरूप आत्मशक्तियो को ढके हुए घने बादलो के समान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एव अन्तराय कर्मो का आवरण छिन्न–भिन्न होने लगता है तथा अनन्त–अनन्त आत्मिक शक्तियो का विकास एव प्रारम्भ हो जाता है।

सच्चे ज्ञान को दबाने वाले ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय

ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय– ये दोनो कर्म आत्मा को सच्चा ज्ञान नहीं होने देते। इन दोनो कर्मो के बन्धन का कारण एक ही है, किन्तु फल कुछ विलग– सा होता है। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के विशेष ज्ञान को आच्छादित करता है तो दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के सामान्य ज्ञान को दबा देता है।

किसी भी परिस्थिति मे पहले समान्य ज्ञान होता है और फिर उसी से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान की अनुभूति होती है। एक मनुष्य है, यह सामान्य ज्ञान है। फिर वह मनुष्य मेवाडी है, मारवाडी है या गुजराती है– ऐसा ज्ञान होना उसके सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान कहलायेगा। इसी प्रकार एक आत्मा है, यह समान्य ज्ञान है। 'एग्गे आया' की दृष्टि से समग्र आत्मा को सामान्य रूप से एक ही आत्मा के रूप मे ले लिया लेकिन विशेष ज्ञान की दृष्टि से आत्मा अनन्त है या आत्मा कर्मो से युक्त अथवा मुक्त है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अथवा तत्त्व का स्वरूप सामान्य अथवा विशेष दृष्टि से उसी परिणाम मे जाना जा सकता है, जिस परिणाम मे

ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम किया जाता है। ये कर्म जब तक अपने प्रबल रूप मे आत्मा के साथ मे सलग्न रहते हैं, तब तक ये सच्चे ज्ञान को दबाये हुए रहते है। ससार के सर्व प्राणियो के प्रति कैसा व्यवहार किया जाना चाहिये तथा वास्तविक दृष्टि से उनको किस रूप मे देखना चाहिये, यह समान्य अथवा विशिष्ट ज्ञान भी वैसी अवस्था मे दबा हुआ रहता है जिसके कारण अपनी चारित्रिक शक्तियो को सही दिशा मे प्रकट करने से भी आत्मा वचित रह जाती है। 'सबको अपने समान जानो' की स्थिति भी इन कर्मों की प्रबलता मे आत्मा के सामने स्पष्ट नही होती है। अत सबको अपने समान जानकर उसके अनुसार अपना व्यवहार बनाने का अवसर ही उपस्थित नही होता। इस मूल स्थिति को समझ कर सबसे पहले इन कर्मों के क्षय–उपशम की ओर आत्मा का पराक्रम प्रस्फुटित होना चाहिये।

सामान्य एवं विशेष ज्ञान की स्थितियां

आत्मा के साथ सलग्न होने वाले समस्त कर्मों की आठ श्रेणिया मानी गई हैं। उनके क्रमिक क्षय या उपशम की दृष्टि से ही गुणस्थान के स्तर नियत किये हुए हैं। इन सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करने पर ही आत्मा मोक्ष की अधिकारिणी बनती है। अमुक गुणस्थान पर आत्मा की अमुक अवस्था बनती है, यह विशेष ज्ञान है। सामान्य ज्ञान से वस्तु–स्वरूप का निर्णय नही होता है। विशेष ज्ञान से ही समग्र रूप से वस्तु को जानते हैं। ससार-सागर को पार करने के लिये विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। विशेष ज्ञान के बिना आत्मा सत्य एव असत्य का निर्णय नही कर पाती है। इस दृष्टि से केवलज्ञान को सर्वोच्च विशेष ज्ञान माना गया है तथा केवलदर्शन को सर्वोच्च सामान्य ज्ञान–जिनकी प्राप्ति ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से होती है। केवलज्ञान से ही सिद्ध एव सासारिक स्वरूपो को पूर्णत जाना जा सकता है, जिसके अभाव मे आत्मा समग्र पदार्थों एव तत्त्वो को सम्पूर्णत नही जान पाती है।

केवलज्ञान की अवस्था परिपूर्ण अवस्था होती है। इस ज्ञान की मूल शक्ति आत्मा के भीतर रही हुई है– वह ज्ञान दबा हुआ है। केवलज्ञान पास मे होते हुए भी विशेष रूप से मनुष्य जो जान नही पाता है यही इन दोनो कर्मों का आवरण है। सूर्य पर बादलों के समान ये कर्म उसे आच्छादित किये हुए है। इसीलिये आचाराग सूत्र मे महावीर प्रभु ने स्पष्ट कहा है –

पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि ।
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि ।।
एवमेगेसि णो णाय भवई ।

ज्ञानावरणीय कर्म से जिस आत्मा पर सघन पर्दा पडा हुआ है, वह जीव यह नहीं जानता कि मैं पूर्वभव मे किस गति में था और यहा पर कहा से आया हू? यह आत्मा क्या कभी इस बात का चिन्तन करती है कि वह पूर्व दिशा से आई है या पश्चिम दिशा से अथवा उत्तर दिशा से आई है या दक्षिण दिशा से? दिशा सम्बन्धी इतना-सा ज्ञान भी इस आत्मा को नही है। शास्त्रो मे इन स्थूल दिशाओ का ही उल्लेख नही है बल्कि प्रज्ञा एव भाव-दिशाओ का भी उल्लेख है तथा आत्मा के सदर्भ मे भाव-दिशाओ का ही विचार किया जाता है। जब भाव-दिशाओ की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है, तब ज्ञान की गहराइया प्राप्त होती हैं।

आत्मचिन्तन से ज्ञान–लाभ

आत्मा के लिये भाव–दिशाए इस प्रकार हैं कि वह किस योनि से आई है? वह पानी, पृथ्वी, अग्नि या वनस्पति से आई है अथवा अन्य योनि से? भाव-दिशाओ के सम्बन्ध में आत्मचिन्तन चलता है, तब विचारधारा उठती है कि ऐसी-ऐसी योनियो से निकल कर आत्मा को जो यह मनुष्य जीवन मिला है, वह मोक्षप्राप्ति के लिये कर्मभूमि है। इस जीवन मे आत्मा अपने पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को क्षीण करते हुए ज्ञान-दर्शन एव चारित्र की सफल अराधना कर सकती है।

यह आत्मचिन्तन जितनी गहराई तक पहुचेगा, उतना ही ज्ञान-लाभ इस आत्मा को होता जाएगा। मानव जीवन की कर्मभूमि मे आकर यह आत्मा मोक्ष की करणी कर सकती है, तीर्थंकर गोत्र बाध सकती है तथा चक्रवर्ती बनने की पृष्ठभूमि तैयार कर सकती है। असि, मसि एव कृषि के क्षेत्रो मे सफलता प्राप्त करती हुई यह आत्मा उग्र धर्म करणी का प्रसग भी उपस्थित कर सकती है।

आत्मशक्ति की इस गूढता को सबसे पहले जानने की आवश्यकता है और यह जानना ही मनुष्य को करने की दिशा में प्रेरित कर सकेगा। मोक्ष-मार्ग के तीन साधनो मे इसी दृष्टि से ज्ञान एव दर्शन को चारित्र से पहले स्थान दिया गया है। जानो, मानो एव करो– ये तीन अंग हैं और इनके साथ 'सम्यक्' शब्द जुडा हुआ है। सच्चा ज्ञान ही सच्ची श्रद्धा एवं सच्चे आचरण का कारणभूत बन सकेगा। सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के बाह्य साधन

अवश्य ही उपदेश श्रवण, चर्चा, अध्ययन आदि हैं, किन्तु चिन्तन–मनन का आन्तरिक साधन मुख्य माना गया है, जिसके बल पर मनुष्य अपने अन्त करण के अन्दर आलोक का अनुभव करता है। आत्मा का आन्तरिक स्वरूप जब ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है, तब उसका भीतर-बाहर सब ज्ञानमय हो जाता है। अपने भीतर झाकने, समझने एव सुधरने की प्रक्रिया का नाम ही आत्मचिन्तन है। यह चिन्तन ज्ञान की गहराइयो को छूता है तो आन्तरिक चारित्र–शक्ति को उद्घाटित करता है। सम्यक् ज्ञान एव दर्शन के आत्मा मे समा जाने पर ही सत्पुरुषार्थ का क्रम बैठता है तथा आत्मा की दबी हुई अनन्त-अनन्त शक्तिया प्रकट होने लगती है।

"आत्मवत् सर्वभूतेषु" का ज्ञान

आत्मा जब अपने स्वरूप पर चिन्तन करती है तो वह सभी आत्माओ के स्वरूप पर भी चिन्तन करती है। चिन्तन की उस धारा मे आत्मा को यह अनुभूति होती है कि मूल रूप मे सभी आत्माए समान हैं और सब मे समान शक्ति रही हुई है। अन्तर है तो इस बात का कि उन आत्माओ मे अपनी मूल शक्तियो का प्रकटीकरण न्यूनाधिक अशो मे दिखाई देता है। इस प्रकार के मूलभूत चिन्तन के आधार पर यह धारणा बनती है कि ससार के समस्त प्राणी हमारी अपनी आत्मा के ही समान हैं। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का ज्ञान एक प्रकार से ज्ञान की पहली सीढी है। 'सबको अपने समान जानो' की धारणा ज्यो–ज्यो मजबूत बनती जाती है, मनुष्य का व्यवहार एव आचरण स्वत ही उत्थान की दिशा मे मुडता जाता है।

'सबको अपने समान जानो'– की आन्तरिक अनुभूति आत्मा मे कोमलता का सचार करती है। वह क्रूर भावो से दूर होती है तथा सहानुभूति के विचारो से ओतप्रोत बन जाती है। जब विचार एव व्यवहार मे समरसता पैदा होती है, तभी समता-भावना का विकास होता है। सबको अपने समान जानना, यह समता का ज्ञानपक्ष है तो सबके साथ अपने को सुखकर लगे वैसा ही व्यवहार करना, यह समता का आचरणपक्ष कहलायेगा।

मानव–जीवन समता से ओतप्रोत बने !

समता की साधना मानव जीवन का लक्ष्य बनना चाहिये। सभी प्राणियो के प्रति समता का अनुभाव सासारिक जीवन मे सद्भाव एव सहयोग का वातावरण रचेगा तो आत्मा के लिये भी आध्यात्मिक क्षेत्र मे सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने का सम्बल बनेगा। सभी प्राणियो के बीच समता-सूत्र स्थापित हो जाए तो ससार के हिसामय वातावरण मे भी भारी परिवर्तन आ जाएगा,

बल्कि यो कहे कि आध्यात्मिक दर्शन ही प्रधान रूप से ससार का सचालन केन्द्र बन जाएगा।

समता की साधना करनी है तो समता का सच्चा ज्ञान जाग्रत् करना होगा। आत्मचिन्तन करना होगा कि यह मेरी आत्मा किस दिशा से आई है और मेरे क्या करने से यह उच्च दिशा मे जायेगी अथवा मेरे क्या नहीं करने से प्राप्त मानव जीवन निरर्थक हो जाएगा? यह आत्म-चिन्तन ही आत्मज्ञान के आवरणो को ऊपर उठायेगा। आत्मज्ञान के प्रकाश मे समता की स्थिति स्पष्ट बन जाएगी एव यह आत्म-जागरणा जन्म ले सकेगी कि सभी प्राणियो के साथ आत्म-समता कैसे स्थापित की जा सकती है?

जिन आत्माओ के अन्तरतम मे इस प्रकार की समता का ज्ञान नही जागता है, वे विषम भावो से स्वय ही पीडित नहीं होती बल्कि अन्य आत्माओ को भी विषमता से पीडित बनाती हुई दु खकर स्थितियो का निर्माण करती रहती हैं। ऐसी आत्माओ को सच्चा दिशाबोध देना भी प्रबुद्ध आत्मा का आत्मिक कर्तव्य होता है।

श्रेणिक एवं अभयकुमार का प्रसंग तथा समता का दिशाबोध

एक बार मगध सम्राट श्रेणिक अपनी राजसभा मे बैठे हुए थे। सभा मे सभी सामन्त व अधिकारी उपस्थित थे। प्राचीन काल मे चाहे राजसभा हो या जनगोष्ठिया, जब भी अवसर मिलता, प्रमुख रूप से वहा ज्ञानचर्चा होती थी। ऐसी ही ज्ञानचर्चा के प्रसग मे राजा श्रेणिक अपने सभासदो से बोले– आप लोग विद्वान्, बुद्धिशाली एव अनुभवी हैं, अत आप लोगो के सामने मैं एक प्रश्न रख रहा हू, जिस का उत्तर सोच-समझ कर दीजिये। मेरा प्रश्न यह है कि सबसे सस्ता खाद्य पदार्थ कौनसा है?

सभी ने सम्राट के प्रश्न को सुना व सोचा कि इतना साधारण प्रश्न है और उसका उत्तर देने मे भला क्या कठिनाई है? सभी लोग अपना-अपना दिमाग दौडाने लगे। उनमे से एक सामन्त ने चिन्तन किया कि अनाज तो काफी श्रमसाध्य एव महगा होता है किन्तु मास सबसे सस्ता पडता है। कारण जगल मे जाकर किसी जानवर पर बाण चलाओ और उसे काट डालो– मास उपलब्ध हो जाएगा, न विशेष श्रम एव न व्यय। यह सोचकर वह खडा हुआ और उसने निवेदन किया– महाराज, मेरी राय मे सबसे सस्ता खाद्य-पदार्थ मास होता है। कई सामन्तो ने तत्काल उसकी राय का समर्थन कर दिया।

श्रेणिक महाराज तब अपने विशिष्ट बुद्धिशाली प्रधान अभयकुमार की तरफ मुड़े और बोले– प्रधानजी मेरे प्रश्न पर करीब-करीब सभी सामन्तो ने

अवश्य ही उपदेश श्रवण, चर्चा, अध्ययन आदि हैं, किन्तु चिन्तन–मनन का आन्तरिक साधन मुख्य माना गया है, जिसके बल पर मनुष्य अपने अन्त करण के अन्दर आलोक का अनुभव करता है। आत्मा का आन्तरिक स्वरूप जब ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है, तब उसका भीतर-बाहर सब ज्ञानमय हो जाता है। अपने भीतर झाकने, समझने एव सुधरने की प्रक्रिया का नाम ही आत्मचिन्तन है। यह चिन्तन ज्ञान की गहराइयो को छूता है तो आन्तरिक चारित्र–शक्ति को उद्घाटित करता है। सम्यक् ज्ञान एव दर्शन के आत्मा मे समा जाने पर ही सत्पुरुषार्थ का क्रम बैठता है तथा आत्मा की दबी हुई अनन्त-अनन्त शक्तिया प्रकट होने लगती हैं।

"आत्मवत् सर्वभूतेषु" का ज्ञान

आत्मा जब अपने स्वरूप पर चिन्तन करती है तो वह सभी आत्माओ के स्वरूप पर भी चिन्तन करती है। चिन्तन की उस धारा मे आत्मा को यह अनुभूति होती है कि मूल रूप मे सभी आत्माए समान हैं और सब मे समान शक्ति रही हुई है। अन्तर है तो इस बात का कि उन आत्माओ मे अपनी मूल शक्तियो का प्रकटीकरण न्यूनाधिक अशो मे दिखाई देता है। इस प्रकार के मूलभूत चिन्तन के आधार पर यह धारणा बनती है कि ससार के समस्त प्राणी हमारी अपनी आत्मा के ही समान हैं। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का ज्ञान एक प्रकार से ज्ञान की पहली सीढी है। 'सबको अपने समान जानो' की धारणा ज्यो–ज्यो मजबूत बनती जाती है, मनुष्य का व्यवहार एव आचरण स्वत ही उत्थान की दिशा मे मुडता जाता है।

'सबको अपने समान जानो'– की आन्तरिक अनुभूति आत्मा मे कोमलता का सचार करती है। वह क्रूर भावो से दूर होती है तथा सहानुभूति के विचारो से ओतप्रोत बन जाती है। जब विचार एव व्यवहार मे समरसता पैदा होती है, तभी समता-भावना का विकास होता है। सबको अपने समान जानना, यह समता का ज्ञानपक्ष है तो सबके साथ अपने को सुखकर लगे वैसा ही व्यवहार करना, यह समता का आचरणपक्ष कहलायेगा।

मानव–जीवन समता से ओतप्रोत बने !

समता की साधना मानव जीवन का लक्ष्य बनना चाहिये। सभी प्राणियो के प्रति समता का अनुभाव सासारिक जीवन मे सद्भाव एव सहयोग का वातावरण रचेगा तो आत्मा के लिये भी आध्यात्मिक क्षेत्र मे सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने का सम्बल बनेगा। सभी प्राणियो के बीच समता-सूत्र स्थापित हो जाए तो ससार के हिसामय वातावरण मे भी भारी परिवर्तन आ जाएगा,

बल्कि यो कहे कि आध्यात्मिक दर्शन ही प्रधान रूप से ससार का सचालन केन्द्र बन जाएगा।

समता की साधना करनी है तो समता का सच्चा ज्ञान जाग्रत् करना होगा। आत्मचिन्तन करना होगा कि यह मेरी आत्मा किस दिशा से आई है और मेरे क्या करने से यह उच्च दिशा मे जायेगी अथवा मेरे क्या नहीं करने से प्राप्त मानव जीवन निरर्थक हो जाएगा? यह आत्म–चिन्तन ही आत्मज्ञान के आवरणो को ऊपर उठायेगा। आत्मज्ञान के प्रकाश मे समता की स्थिति स्पष्ट बन जाएगी एव यह आत्म–जागरणा जन्म ले सकेगी कि सभी प्राणियो के साथ आत्म–समता कैसे स्थापित की जा सकती है?

जिन आत्माओ के अन्तरतम मे इस प्रकार की समता का ज्ञान नही जागता है, वे विषम भावो से स्वय ही पीडित नहीं होती, बल्कि अन्य आत्माओ को भी विषमता से पीडित बनाती हुई दु खकर स्थितियो का निर्माण करती रहती हैं। ऐसी आत्माओ को सच्चा दिशाबोध देना भी प्रबुद्ध आत्मा का आत्मिक कर्तव्य होता है।

श्रेणिक एवं अभयकुमार का प्रसंग तथा समता का दिशाबोध

एक बार मगध सम्राट श्रेणिक अपनी राजसभा मे बैठे हुए थे। सभा मे सभी सामन्त व अधिकारी उपस्थित थे। प्राचीन काल मे चाहे राजसभा हो या जनगोष्ठिया, जब भी अवसर मिलता, प्रमुख रूप से वहा ज्ञानचर्चा होती थी। ऐसी ही ज्ञानचर्चा के प्रसग मे राजा श्रेणिक अपने सभासदो से बोले– आप लोग विद्वान्, बुद्धिशाली एव अनुभवी हैं अत आप लोगो के सामने मैं एक प्रश्न रख रहा हू, जिस का उत्तर सोच-समझ कर दीजिये। मेरा प्रश्न यह है कि सबसे सस्ता खाद्य पदार्थ कौनसा है?

सभी ने सम्राट के प्रश्न को सुना व सोचा कि इतना साधारण प्रश्न है और उसका उत्तर देने मे भला क्या कठिनाई है? सभी लोग अपना–अपना दिमाग दौडाने लगे। उनमे से एक सामन्त ने चिन्तन किया कि अनाज तो काफी श्रमसाध्य एव महगा होता है किन्तु मांस सबसे सस्ता पडता है। कारण जगल मे जाकर किसी जानवर पर बाण चलाओ और उसे काट डालो– मास उपलब्ध हो जाएगा, न विशेष श्रम एव न व्यय। यह सोचकर वह खडा हुआ और उसने निवेदन किया– महाराज मेरी राय मे सबसे सस्ता खाद्य–पदार्थ मास होता है। कई सामन्तो ने तत्काल उसकी राय का समर्थन कर दिया।

श्रेणिक महाराज तब अपने विशिष्ट बुद्धिशाली प्रधान अभयकुमार की तरफ मुड़े और बोले– प्रधानजी, मेरे प्रश्न पर करीब-करीब सभी सामन्तों ने

अपनी- अपनी राय जाहिर की है, किन्तु तुमने अपनी सम्मति प्रकट नही की, ऐसा क्यो ?

प्रधान अभयकुमार सारे राजकाज का कुशलतापूर्वक सचालन करते थे किन्तु इस कार्य मे भी वे कुशल थे कि राज्य चालते हुए भी प्रजाजन मे किस प्रकार धार्मिक सस्कारो को ढालना तथा आध्यात्मिक विज्ञान का प्रसार करना चाहिये। समता के वे अनन्य उपासक थे, अत प्रश्न का जो उत्तर सामने आया था, उससे उनके मन को चोट पहुची थी। वे चाहते थे कि उस प्रश्न का ऐसा उत्तर व्यावहारिक विधि से दिया जाए कि समस्त प्राणियो के प्रति समता का सिद्धान्त स्पष्ट बन सके। उन्होने नम्रतापूर्वक महाराज से निवेदन किया कि उनके प्रश्न का उत्तर वे कल देगे।

अब सभी ओर उत्सुकता बढ गई कि बुद्धि के धनी अभयकुमार उस प्रश्न का किस रूप मे उत्तर देगे?

जब कुछ रात ढल आई तो अभयकुमार अपनी आकृति को अतीव चिन्तातुर बना कर पहले उसी सामन्त के घर पर गये जिसने सबसे सस्ता खाद्य मास को बताया था। बडी घबराहट के साथ अभयकुमार बोले– श्रेणिक महाराज की तबीयत अचानक बडी गभीर हो गई है और वैद्यो ने तुरन्त किसी मनुष्य के कलेजे के दो तोले मास की माग की है सो आपको यह दो तोला मास देना ही होगा। महाराज का जीवन बचाने का प्रश्न है, जल्दी कीजिये। सामन्त तो सुनकर हक्का–बक्का हो गया और गिडगिडाने लगा कि किसी तरह उसको बचा ले। उसने दस लाख की राशि भी भेट की। इस तरह अभरकुमार सभी प्रमुख सामन्तो के यहा घूम गये। कोई भी अपने कलेजे का दो तोला मास देने को तैयार नही हुआ। सभी ने लाखो की राशिया दे दीं।

दूसरे दिन राजसभा मे भारी भीड जमा थी। महाराजा ने अभयकुमार से उत्तर प्रस्तुत करने को कहा। अभयकुमार ने लाखो की राशिया महाराज के चरणो मे भेट की व रात की सारी बात सुनाते हुए निवेदन किया कि मुझे तो मास ही सबसे महगा खाद्य मालूम हुआ है– दो तोले मास का मोल दस लाख रुपये! यह इन लोगो का अज्ञान है जो अन्य प्राणियो के मास को इन्होने सबसे सस्ता बताया। यदि इनके विषम भाव नही होते तो ये प्राणियो के व अपने मास को बराबर ही मानते।

'सबको अपने समान समझो' का व्यवहारिक पाठ

श्रेणिक महाराजा ने तब सामन्तो को समझाते हुए कहा– आप लोगो के हृदय विषमता से भरे हुए हैं। इसी कारण आपको अन्य प्राणियो का मास

तो सबसे सस्ता दिखाई दिया और अपना-खुद का मास सबसे महगा। इस उदाहरण से आप अब समता की ओर मुडिये और सबको अपने समान समझिये। जैसा जीवन आपको प्यारा है वैसा ही वह प्रत्येक प्राणी को प्यारा होता है। अपने सुख-दुख के अनुभव जैसा ही प्रत्येक प्राणी का अनुभव होता है। अत जीवन को सदाशयी बनाना है तो समता का व्यावहारिक पाठ आचरण मे क्रियान्वित करना होगा।

क्या श्रेणिक महाराज का यह व्यावहारिक पाठ सबके लिये नहीं है?

आज चारो ओर फैले हुए वातावरण पर एव सामान्य-जन के आचरण पर नजर दौडावे तो ऐसा लगता है कि विषमता व्याप्त हो रही है। विचार मे विषमता, वचन मे विषमता तो व्यवहार मे भी विषमता– जीवनक्रम जैसे अस्त–व्यस्त हो रहा है। वासना, स्वार्थ, हिसा आदि दुर्गुणो से मानव जीवन त्रस्त है। सद्भाव सहानुभूति, सहयोग जैसे सद्गुणो को वह भूलता चला जा रहा है। ऐसे कठिन समय मे समता की सर्वोपरि आवश्यकता है। प्रबुद्ध व्यक्तियो को आगे आकर समता–दर्शन का इस तरह प्रचार करना चाहिये कि सबको अपने समान समझने की वृत्ति का विकास हो।

समता : संसार से सिद्धस्थल तक

सबको अपने समान जानने की जो समताधारा है– यह सबको शीतलता प्रदान करने वाली है। ससार के विभिन्न क्षेत्रो मे व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के जीवन मे यदि समता स्थापित होती है तो वहा सुखमय वातावरण ढलता है जिसमे रहकर व्यक्ति को समता के आध्यात्मिक क्षेत्र मे गति करना सहज बन जाता है। यह गति यदि सुव्यवस्थित बन गई तो फिर चरम लक्ष्य के रूप मे मोक्षप्राप्ति कठिन नही रह जाती है, जहा समता का उच्चतम आदर्श रूप विद्यमान रहता है वहा सभी आत्माए ज्योति मे ज्योति की तरह रलमिल कर सदा–सदा के लिये अवस्थित हो जाती हैं।

सिद्धस्थल की इस समता का श्रीगणेश ससार से ही करना होगा। सम्यक् दृष्टि से श्रावकत्व एव श्रावकत्व से साधुत्त्व की श्रेणियो मे समता की सीढियां चढनी होगी। अत इन सीढियो से नीचे के धरातल पर पाव जमाने के लिये सबसे पहले सबको अपने समान जानने का अभ्यास आरभ कर दीजिये।





स्वकीय शक्ति की पहिचान!

श्री सुविधि जिनेश्वर वदिये हो
अव्याबाध सुख पामिया हो, वेदनीय कर्म खपाय ।
अवगाहना अटल लही हो, आयु क्षय कर जिनराय।।

सुविधिनाथ भगवान् के चरणो मे प्रार्थना के माध्यम से कवि विनयचन्द्रजी ने महत्त्वपूर्ण सकेत दिया है। आत्मा की पवित्रता को मुखरित करने के लिये उसके अन्दर रही हुई अनन्त शक्तियो का प्रकटीकरण मानव अपने इसी जीवन के धरातल पर कर सकता है। प्रार्थना मे यही महत्त्वपूर्ण सकेत है कि मानव निज की शक्ति की पहिचान करे।

विकास की आकाक्षा रखने वाले कई मुनष्य भी मन मसोस कर हंतोत्साहित होकर बैठे हुए है। वे यह सोचते है कि हम शक्तिहीन हैं, सम्पत्तिहीन है और साधनहीन हैं, अत हम कुछ नही कर सकते है। यह अज्ञान है– आत्मविश्वास के अभाव की स्थिति है। ज्ञानीजन इस विषय मे थके-हारे मनुष्य को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं– हे मानव, तू अपने-आप को नही पहिचानता– तेरे पास अतुल शक्ति है, अमित वैभव है जो तेरे अपने ज्ञान से भी छिपा हुआ है। इसलिये सच्चे ज्ञान को पैदा कर। अपनी दृष्टि को अन्दर लेजा और विश्वास के साथ साधना मे तल्लीन बन। फिर देख कि तू कितना शक्तिशाली है, कितना वैभवसम्पन्न है?

अपनी आत्मा से जुड़ी हुई विश्व की विराट् शक्तियां

मनुष्य की अपनी आत्मा से विश्व की विराट् शक्तिया जुडी हुई है। विकास के श्रेष्ठ साधन उसके पास हैं, किन्तु उसकी दृष्टि और–और तरफ भटक रही है, उसकी भावना विश्रृंखलित बन कर गलत दिशाओ मे बह रही है। यदि मनुष्य अपने अधकारपूर्ण वर्तमान जीवन को प्रकाशमय दिशा की ओर मोडना चाहता है तो वह अपनी दृष्टि एव भावना पर नियत्रण करके उस

अनन्त शक्ति को प्रकट कर सकता है जो आत्मा को भव्य रूप प्रदान करती है। विराट विश्व मे फैली हुई जितनी भी विराट् शक्तिया है उन शक्तियो से आत्मा का सम्बन्ध जुडा हुआ है, किन्तु उस सम्बन्ध को सक्रिय बनाने के लिये भावना के विद्युत्प्रवाह की आवश्यकता है। जैसे बिजलीघर से आपके घर की बिजली फिटिग का सम्बन्ध तो जुडा हुआ हो, लेकिन करेन्ट नही हो तो प्रकाश कैसे होगा? यह करेन्ट ही भावना है। भावना का प्रवाह ज्यो ही सही दिशा मे बहने लगेगा तो आत्मा का शक्तियो के साथ अपना सम्बन्ध सजीव हो उठेगा।

अनन्त शक्तियो के साथ आत्मा सम्बन्धित है इस सत्य को समझने की आवश्यकता है। ज्यो ही यह सत्य आत्म–चेतना मे उजागर हो जाता है, आत्मा उन शक्तियो को प्रकट करने के कठिन कार्य मे जुट पडती है। फिर वह उन शक्तियो का सदुपयोग भव्य रीति से करती हुई अपना विकास सम्पादित कर सकती है।

शक्ति का स्रोत फूटता है मनोबल की दृढता के साथ

भगवती सूत्र के प्रसग से आप शक्रेन्द्र की शक्ति का कुछ परिचय पा गये हैं। जब चमरेन्द्र ने आसुरी वृत्ति के साथ उत्पात किया, तब शक्रेन्द्र ने अपने सिहासन पर बैठे-बैठे ही एक शक्ति–शस्त्र का प्रयोग किया। आप कल्पना कर सकते हैं कि वह शस्त्र लोहे का बडा वज्र जैसा रहा होगा किन्तु उस समय के शास्त्रो के गहन तत्त्व का अध्ययन करे तो पता चलेगा कि वह शस्त्र मनोबल की शक्ति का प्रयोग था। बताया गया है कि इन्द्र जब सिहासन पर आरूढ होते थे, उस समय वैक्रिय एव अन्य शक्तियो से वे सम्पन्न हो जाते थे। उन शक्तियो का प्रयोग जिस रूप मे भी वे चाहते, अपने सकल्पबल से कर सकते थे।

क्या आप जानते हैं कि इन्द्र को ऐसी शक्तिया कैसे उपलब्ध होती हैं? क्या उन्होने वहा स्वर्ग मे रहकर साधना की और उन शक्तियो को प्राप्त किया? नही, ऐसा नही है। स्वर्ग साधना का स्थल नही है साधना का सर्वश्रेष्ठ स्थल है यह ससार और यह मनुष्य जीवन। इन्द्र का जीवन भी वही पाता है जो मनुष्य तन मे रहकर अपनी कर्मण्य शक्ति से वैसे गौत्रकर्म का बंध करता है। तो क्या मानव इस मानव–जीवन मे उन शक्तियो का सम्पादन नहीं कर सकता है?

इस सत्य को याद रखिये कि मनोबल की दृढता के साथ ही शक्ति का स्रोत फूटता है। आपका मन मजबूत बन जाना चाहिये कि आप अपने

भीतर छिपी हुई शक्तियो को प्रकट करके ही रहेगे। मनोबल और सकल्प बन गया तो फिर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेने से कोई भी ताकत आपको डिगा नहीं सकती है। हतोत्साहित होने का सबसे बडा कारण ही यह होता है कि मनुष्य का मन उसका साथ नही देता अथवा मनुष्य अपने मन को नियत्रित नही कर पाता है। मन का बल अलग और मनुष्य का कार्य जब अलग हो तो कामयाबी नही मिलती है। इसलिये मनोबल की दृढता पहले जरूरी है।

सुविधि की सुविधि का आप अनुसरण करें!

इन्द्र क्या, इन्द्र से भी ऊपर वीतराग की अनन्त–अनन्त शक्तियो का मनुष्य अपनी आत्मा मे उद्घाटन कर सकता है, जबकि वह अपने मनोबल को सुदृढ बनाले तथा भगवान् सुविधिनाथ द्वारा बताई गई आत्म–विकास की सुविधि का अनुसरण करे। उस सुविधि का जीवन मे सचार तभी हो सकता है जब आत्मानुशासन को स्वीकार किया जाए। अपने-आप मे अनुशासित बनना, भटकती हुई मनोवृत्तियो पर नियत्रण पाना तथा जीवन को आत्मविकास की राह पर आगे बढाना सयम के केन्द्रबिन्दु माने गये हैं। संयमी जीवन मे आत्मा का शासन इतना सजग बन जाए कि प्रत्येक विचार और वृत्ति आत्मा के अधीन ही कार्यरत हो।

सुविधि का जब अनुसरण किया जाएगा तो अन्तर्दृष्टि विकसित बन जाएगी तथा भावना सुविधि के ढाचे मे ढल जाएगी, जिससे आत्मा का सचालन पूर्णतया विकासोन्मुखी हो जाएगा। जो स्वय पर नियत्रण पा लेता है और सयमी शक्ति को सम्हाल लेता है, वह व्यक्ति इस विराट् विश्व मे विराट् शक्तियो को अपने भीतर सजीव रूप दे देता है। तब वह उन शक्तियो का लोक-कल्याण मे चाहे जिस प्रकार सदुपयोग कर सकता हे।

ऐसी शक्तियो का खजाना मनुष्य के इस छोटे-से जीवन के अन्दर भरा हुआ पडा है। वह जिस क्षण भी विचार करले– अपना निर्णय बनाले तो सुविधि का अनुसरण करके उस खजाने को प्राप्त कर सकता है। खजाना प्राप्त क्या करना है, उसे खोज कर प्रकट करना मात्र है क्योकि वह तो अपनी ही आन्तरिक गहराइयो मे छिपा हुआ हे। विडम्बना की बात यही है कि आज के मनुष्य का ध्यान उसकी तरफ नहीं है।

नाशवान तत्त्वों को बटोरने में पागल बना आज का मनुष्य

आज का मनुष्य अपने जीवन की महत्ता को भुलाये हुए है। वह आत्मा की शक्तियों को विसार बैठा है। आत्मा की अमरता का उसे ज्ञान नहीं, निज की शक्ति की उसे पहिचान नही तो अपने आत्मिक बल पर भी उसे

विश्वास नही है। वह तो ससार के नाशवान तत्त्वो पर मुग्ध बना हुआ है और पागल बनकर उन्ही तत्त्वो को बटोरने मे अपने अमूल्य जीवन को खपा रहा है। जिन तत्त्वो की शक्ति स्थायी नही है, उन तत्त्वो के सग्रह मे वह अपनी स्थायी शक्ति को बरबाद कर रहा है। बाहरी विषयो मे उलझ कर वह इस अमूल्य जीवन को निरर्थक बना रहा है। अज्ञान एव अविश्वास के इस गर्त से मानव को आज उबारने की आवश्यकता है कि वह अपनी शक्ति को पहिचाने।

अनादि काल से मानवात्मा का स्वभाव विकारी बना हुआ है। उसे सचेत करने के लिये ज्ञानीजन का सकेत है– हे मानव, तू निज की प्रज्ञा को सम्हाल और अपनी शक्ति को पहचान। इस शक्ति को पहिचानने के लिये शास्त्रो मे सुविधि का सकेत दिया गया है जिसे जीवन मे कार्यान्वित करने से काम बन सकता है।

नई शक्ति पैदा नहीं करनी है, अपनी ही शक्ति प्रकट करनी है

मैं आपके समक्ष शस्त्रीय सुविधि के बारे मे क्या-कुछ कहूँ? जहा भी मानव ने अपनी मनोवृत्तियो पर नियत्रण किया है, उसने अपनी शक्तियो का सवरण भी किया है। मूल तथ्य यह समझ लिया जाना चाहिये कि शक्तियो का नये सिरे से अर्जन नही करना है, बल्कि अपने ही भीतर दबी हुई शक्तियो को अपने सुदृढ मनोबल के साथ प्रकट करने का पुरुषार्थ करना है। दो कामो का ध्यान रखना है– एक तो छिपी हुई शक्तियो को प्रकट करना तथा बाद मे उन प्रकट शक्तियो का सदुपयोग करना। कुछ व्यक्ति शक्ति पाकर अपने को कुछ-का-कुछ समझने लग जाते हैं और उस नासमझी मे वे अपनी शक्तियो का दुरुपयोग कर बैठते हैं। यह दुरुपयोग उन शक्तियो को भी नष्ट कर देता हैं तो उन आत्माओ को भी डुबो देता है। अत शक्ति प्रकट करने की सच्ची साधना और उसके उपयोग मे विवेकपूर्ण सतर्कता का बराबर ध्यान रहना चाहिये।

मनुष्य अपनी शक्ति का अपने ही जीवन के लिये प्रयोग नहीं करता, बल्कि उसका प्रयोग वह सामाजिक राष्ट्रीय आदि धरातल पर भी करता है। जब वह अपनी शक्ति का सही प्रयोग करता है तो सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन को भी सुव्यवस्थित बनाता है। समाज और राष्ट्र मे उसे जो विषमता दिखाई देती है, उसे मिटाने मे तथा समतापूर्ण वातावरण की रचना करने मे वह अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है। तब पारिवारिक समस्याओ को भी वह इसी दृष्टिकोण से सुलझाता है। अपने ही आत्मबल से प्रकट की हुई शक्ति सदुपयोग के द्वारा सब ओर सृजनकारी रूप ग्रहण कर लेती है।

प्रकटित शक्ति का समता–समाज के निर्माण में प्रयोग

प्रकटित शक्ति के सदुपयोग की दिशा क्या हो? समाज, राष्ट्र, विश्व एव समस्त प्राणी समूह को इस आत्मिक शक्ति का लाभ मिल सकता है, यदि मनुष्य अपने दृष्टिकोण को विस्तृत बनावे। समता-समाज का निर्माण मैं इस सदुपयोग की स्वस्थ दिशा मानता हूँ। समता-समाज के निर्माण से मेरा अभिप्राय एक अलग समाज के निर्माण से नही है, बल्कि समस्त मानव समाज को समता के सद्भाव–रग मे रग देना है। अपने विचार एव व्यवहार मे मनुष्य समता का समावेश करले तो समाजगत सम्पूर्ण व्यवस्थाए लोक-कल्याणकारी बन जायेगी। ऐसे समतामय समाज मे लोग अपने-आप को भूल कर दूसरो की हितचिन्ता मे निमग्न बन जायेगे। समत्व का ऐसा वातावरण आत्मिक शक्तियो के अधिकतम प्रकटीकरण को निरन्तर प्रोत्साहित करता रहेगा।

समता की दिशा मे आगे बढने के लिये सबसे पहले आत्मशक्ति का प्रकटीकरण जरूरी हो जाता है क्योकि एक सशक्त व्यक्ति ही समाज को सशक्त बना सकता है। व्यक्ति जब अपने विचारो एव कार्यों को व्यवस्थित बनाता हुआ अपने चरण आगे बढाता है तो उसके सामने सामाजिक क्षेत्र हो या धार्मिक समाज अथवा सासारिक व्यवस्था हो या कोई नैतिकता का आन्दोलन, वह अपनी शक्ति से उसे सुघड रूप दे देता है तथा उसमे शक्ति को सचरित करता है। वह व्यक्ति अपने जीवन मे परिवार की स्थिति से ऊपर उठता हुआ समाज के रगमच पर भी विनम्र बनकर सामाजिक अनुशासन को प्रेरित करता है। उस के चरण बीच मे कही रुकते नही हैं। समाज से राष्ट्र के रगमच पर और उससे भी आगे लोक–कल्याण के मार्ग पर वे निरन्तर चलते ही रहते हैं।

पंजाबकेशरी रणजीतसिंह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक तथ्यो के अनुसार ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियो का व्यक्तित्व उभर कर ऊपर आ जाता है और वे लोक-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर बन जाते हैं। पजाबकेशरी रणजीतसिह का व्यक्तित्व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे इसी प्रकार उजागर हुआ था।

रणजीतसिहजी पजाबकेशरी इसलिये कहलाये कि वे शूरवीर होने के साथ बुद्धिशाली, अनुशासनप्रिय एव सत्यनिष्ठ थे। जीवन को ठीक दिशा मे रख कर वे चल रहे थे लेकिन अमुक अवस्था मे पहुचने के बाद उनके मन मे यह आ गया कि वे ही सब-कुछ हैं। उन्होने अपना मान परिवार, समाज और राष्ट्र से भी ऊपर समझ लिया। तव सिख समाज के जो सघीय नियम थे,

उनकी उन्होने उपेक्षा शुरू कर दी। अगली बार समाज की जब सगत जुडी और सामाजिक व्यक्ति एकत्रित हुए तो बडे-बूढो ने रणजीतसिह को सही रास्ते पर चलने की सलाह दी। रणजीतसिह का गलत रास्ता यह था कि वे अपनी तुच्छ वासनापूर्ति के लिये एक वेश्या से विवाह करना चाहते थे। रणजीतसिह ने सलाह नही मानी और वेश्या से विवाह कर लिया। उसके बाद उन्होने गुरुद्वारे मे उपहार भेजा तो उस उपहार को वापिस लौटा दिया गया यह कहकर कि उन्होने सगत के अनुशासन को भग किया है। यह उनके लिये समाज–बहिष्कार का आदेश था।

सिख समाज की व्यवस्था बडी सुन्दर है। सगत के इस आदेश से रणजीतसिह को अपनी भूल महसूस हुई। तब उन्होने सगत मे उन्हे वापिस लेने का अनुरोध करते हुए दड स्वीकार करने की अपनी तैयारी जाहिर की। फिर भी सगत ने उस विनती पर कोई ध्यान नही दिया। फिर सगत की जब बैठक हुई तो रणजीतसिह बाहर खडे रहे और निवेदन किया कि मैंने अनुशासनहीन होकर नीच कार्य किया, उसके लिये जो भी दड दिया जाएगा, उसे मैं स्वीकार करूगा। फिर उन्हे रुपयो का जुर्माना देने, सौ कोडे लगवाने तथा सबकी जूतिया उठाने की सजा दी गई किन्तु उनकी प्रायश्चित्त की सच्ची भावना देखकर सभी द्रवित हो उठे।

यह सिख समाज का रूपक है जिससे स्पष्ट होता कि जब व्यक्ति अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने पर उतारू होता है तब सामाजिक शक्ति ही उस दुरुपयोग को कठोरता के साथ रोक सकती है तथा व्यक्ति की शक्ति को फिर से सही राह पर लाती है।

आत्मा की महान् शक्ति एवं विकास का विशाल क्षेत्र

आत्मा की शक्ति को पहिचान कर जब उसे प्रकट कर लेते हैं तो उसका रूप महान् बन जाता है। इसके अनुरूप विकास का क्षेत्र भी विशाल होता है। विकास के क्षेत्र मे कई खड होते है– समाज का खड, राष्ट्र का खड, प्राणीसेवा का खड आदि। एक–एक खड मे जब अमित आत्मशक्ति का प्रयोग किया जाता है, तब वहा विकास की स्वर्णरेखाए खिचती हैं।

मनुष्य की आत्मिक शक्ति उसके जीवन में रही हुई है, किन्तु विचारने का प्रश्न यह है कि उस शक्ति का प्रकटीकरण एव सचय किस प्रकार हो सकता है तथा उस शक्ति का सम्पूर्ण विकास केसे साधा जा सकता है?

व्यक्ति अपने परिवेश मे रहता हुआ अपने पर अकुश रखता है और अपने मे सामाजिक धरातल पर कष्टो को सहन करने की क्षमता पैदा कर

लेता है तो वह अपने जीवन मे सब-कुछ कर सकता है। जिस सामाजिक धरातल पर आप रह रहे है, उसके अनुसार सभी क्षेत्रो मे अपने कर्तव्यो का आपको समुचित निर्धारण करना चाहिये। यह निर्धारण समाज मे समता–प्रसार की दृष्टि से हो, ताकि व्याप्त विषमता को कम कर सके। धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे भेदभाव एव विषमता का प्रसग नही हो। आत्मा की महान् शक्ति से विकास का विशाल क्षेत्र लाभान्वित होना चाहिये।

आत्मशक्ति का सफल प्रयोग : वीरसंघ योजना

साधुधर्म की मर्यादाए बनी रहे तथा आत्मशक्ति का लोक-कल्याण की दृष्टि से सफल नियोजन किया जा सके– इस उद्देश्य से स्व आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा ने वीरसघ योजना के रूप मे ऐसे तीसरे वर्ग (साधु एव श्रावक के बीच में) के निर्माण की बात बताई थी जो धार्मिक प्रचार–प्रसार का काम जीवट से कर सके। स्व आचार्यश्री गणेशीलालजी म सा ने भी इस मध्यम वर्ग की स्थिति को समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया था और अजमेर वृहद् साधु सम्मेलन मे यह सुझाव रखा था। अभी श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ के अध्यक्ष श्री गुमानमलजी चोरडिया ने इस योजना की रूपरेखा आपके सामने रखी है तथा इसको जीवन्त रूप देने का प्रस्ताव किया है, जो वास्तव मे विचारणीय एव करणीय है।

साधु जीवन अनुशासनबद्ध पद्धति से अपने नियमोपनियमो का पालन करता हुआ आदर्श उपस्थित करता रहे तो त्यागी श्रावको का वर्ग धर्म का सुदूर प्रदेशो तक भी प्रचार-प्रसार करे, यह वाछनीय है। समाज के कुछ ऐसे व्यक्ति आगे आवे जो साधु जीवन की मर्यादा को तो सर्वथा स्वीकार नही कर सकते किन्तु गृहस्थ जीवन मे त्याग के इच्छुक हैं। ये लोग जिन–धर्म को दूर-दूर तक दीपा सकते है। साधु जीवन के आचार की रक्षा इस वर्ग के हाथो भलीभाति हो सकेगी, वरना आज जिस रूप मे धार्मिक कार्यो के विविध प्रपच साधु-जीवन को घेर रहे हैं, वह अवश्य ही खतरे की घटी है। साधु का आचारगत अनुशासन अक्षुण्ण रहना चाहिये।

शक्तिशाली जीवन की नींव

जीवन मे जो शक्तिशाली बनता है, वही सच्चा जीवन जीता है। आत्मबल से मजबूत बन कर जो शक्तिशाली होता है, वही परिवार, समाज, राष्ट्र आदि को भी शक्तिशाली बना सकता है। इसलिये अपनी निज की शक्ति को पहिचान कर शक्तिशाली जीवन की नीव आज ही रखिये।

*****

4

ससार का मूल कहा है?

श्री दृढरथ नृप तो पिता, नन्दा थारी माय।
रोम रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय।।
जय जय जिन त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार।
सेव्या सुरतरू जेहवो, वाछित सुख दातार।।

प्रभु शीतलनाथ के चरणो मे प्रार्थना की पक्तियो का उच्चारण बन पडा है। प्रभु के अनेक नामो मे से एक नाम शीतलनाथ भी है। नाम कभी-कभी रूढिगत भी होते हैं तो सज्ञावाचक भी होते हैं। प्रभु का नाम सार्थक है। शीतल नाम शान्ति देने वाला है। प्रभु ने अपने जीवन मे अनन्त शीतलता प्राप्त करली एव उसे प्राप्त करने का जगत् को मार्ग दिखलाया। आत्मिक शीतलता आत्मिक गुणो के आधार पर ही प्राप्त होती है। मूल आत्मिक स्वरूप स्वाभाविक तौर पर शीतल होता है, उसमे न तो ऊष्णता होती है और न विकृति। विकार बाहर से आते हैं और आत्मा की मूर्छावस्था मे कर्मरूप मे उससे सलग्न हो जाते हैं।

आत्मा की मूर्छावस्था क्यों?

आत्मा जब तक अपना मूल स्वरूप नही पहिचानती है और साथ ही जब तक वह ससार का भी मूल स्वरूप नहीं पहिचानती है तब तक वह यहा रहे हुए पदार्थो एव तत्त्वो के मूल को भी खोज नही पाती है। कौन-से तत्त्व ग्राह्य हैं, कौन-से तत्त्व त्याज्य हैं तथा कौन से तत्त्व केवल जानने लायक हैं—इसका उसे भान नही होता है। आत्मा की सज्ञा जब इस दृष्टि से सोई हुई रहती है, तब यह कहा जा सकता है कि आत्मा अपनी मूर्छाभरी अवस्था में चल रही है।

आत्मा अपनी आन्तरिकता से अनभिज्ञ रह कर बाहरी पदार्थो को अपनी ओर लाने के लिये आकर्षित होती है। जिन दृश्यो को वह बाहर

देखती है, उनके बारे मे सोचती है कि ये दृश्य तो बहुत ही मनोहर व रमणीय है– मै इनका आनन्द–लाभ लू। तब उनके लिये वह इतनी बैचेन हो जाती है कि उनका आनन्द–लाभ लिये बिना वह सुख का अनुभव नही करती। किसी भी प्रकार से तब वह आत्मा उन बाहरी दृश्यो को अपने लिये सुलभ बनाने के चेष्टा मे लग जाती है। ऐसे चिन्तन एव ऐसी चेष्टाओ के कारण वह आत्मा अपने स्वरूप से भिन्न ससार के पर–पदार्थों को अपने साथ सयुक्त कर लेती है– उनके साथ अपना लगाव जोड लेती है। इस तरह आत्मा अपने अनुभवो को उन पदार्थों के प्रति आसक्त बना लेती है।

तृष्णा एवं आसक्ति की अन्तहीन कड़ी

आत्मा जब अपने चैतन्य स्वभाव से अलग हटकर ससार के जड पदार्थों के प्रति विमुग्ध बनती है तो आसक्ति का क्रम शुरू होता है। आसक्ति जितनी गाढी बनती जाती है, उन पदार्थों को प्राप्त कर लेने की चेष्टाए–कुचेष्टाए भी उतनी ही मात्रा मे बढती जाती हैं। फिर जो पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उनके रख–रखाव की चिन्ता आसक्ति के साथ चलती है और जिन पदार्थों की प्राप्ति नही होती है, उन पदार्थों की वाछा की जाती है। इस वाछा को तृष्णा कह सकते हैं। आसक्ति और तृष्णा की कडिया अन्तहीन होती हैं। ग्रथकारो ने तृष्णा को वैतरणी नदी का रूपक दिया है।

तृष्णा एव आसक्ति की अन्तहीन कडी से जब आत्मा अपने-आप को जोड लेती है तो वह निरन्तर अपने सत्य स्वरूप के ज्ञान से दूर हटती जाती है। जैसा उदाहरण दिया जाता है कि पहले ही बन्दर, फिर उसे भग पिला दे और उसके बाद उसे बिच्छू डक मार दे, तब उसकी उछल-कूद का क्या कहना? कर्मों के भार से लदी हुई तो आत्मा पहले से ही होती है और फिर तृष्णा और आसक्ति के वातचक्रो मे फस जावे, तब उस आत्मा की सज्ञाहीनता विकट अवस्था मे पहुच जाती है। इसी अवस्था का अध्ययन करके ससार के मूल का ज्ञान किया जा सकता है।

संसार एवं उसका मूल

पहिले देखें कि ससार शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? 'ससरति इति ससार.' अर्थात जो ससरण करता है वह ससार है। ससार का क्रम कभी टूटता नहीं इसीलिये उसे अनादि एव अनन्त कहा है। भूतकाल मे भी ससार था वर्तमान में है तथा भविष्य मे भी रहेगा। जब कभी दुनिया के दिमाग मे प्रलय की बात आती है या प्रलय के सम्बन्ध मे विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं तो उनके साथ यह बात भी कही गई है कि प्रलय के बावजूद सृष्टि चलाने

वाले कुछ तत्त्व बच जाते हैं जो नई सृष्टि की रचना करते हैं। संसार में प्रलय हो जाता है और फिर नये सिरे से संसार पैदा होता है व बसता है।

छोटे-छोटे प्रलय तो भूकम्प, बाढ़, युद्ध आदि से होते हुए लोग देखते हैं। इन्हें आंशिक प्रलय कह सकते हैं। उन्नत देश होता है या भव्य-समृद्ध नगर होता है, वह भूकम्प या युद्ध से तहस-नहस हो जाता है। किन्तु फिर उसी स्थान पर नये नगर और नये उद्योग पनप आते हैं। पिछले महायुद्ध में जापान के नगरों पर अणुबम डालकर उन्हें राख के ढेर में बदल दिया गया था, किन्तु आज वहां पर उनसे भी अधिक भव्य नगर आबाद हो गये हैं। विनाश और निर्माण का यह क्रम टूटता नहीं है और इसीलिये संसार का क्रम भी चलता रहता है।

प्रलय की बात जैन ग्रथों मे खण्ड—प्रलय की अपेक्षा से आती है जिसे एक युग में छठे आरे (कालखड) की सज्ञा दी गई है। छठा आरा शुरू होते ही सात—सात दिन मिलाकर कुल उनपचास दिनो तक कंकड, अग्नि, हवा, पानी आदि मारक तत्त्वो की ऐसी बरसाते होती हैं कि सब-कुछ नष्ट हो जाता है। फिर भी गहरी गुफाओ आदि में कुछ लोग बच जाते हैं और ससार का क्रम बनाये रखते हैं।

ऐसा यह ससार टिका हुआ है और चलता रहता है, जड़ एव चेतन के संगम के आधार पर। इसका मूल है जड और चेतन का मेल। यह मूल कैसे जमता है कैसे चलता और फलता है— इस पर विचार करेगे।

सर्वप्रथम संसार के मूल गुण का ज्ञान आवश्यक

महावीर प्रभु ने आचाराग सूत्र मे ससार के मूल का स्पष्टीकरण किया है। वहा बताया गया है कि जो मूल गुण है, वह मूल स्थायी है और जो स्थायी मूल है, वही उसका गुण होता है। यहा पर जो 'गुण' शब्द आया है, गुण की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप अभिव्यक्त नही किया गया है। उसमे मुख्यत शाब्दिक रूप है। कान मे सुनने का गुण है, वह शब्द। कान शब्द को श्रवण करता है, उस शब्द को भी गुण कहा है। आखो का गुण देखना है इसलिये दृष्टि चक्षु का गुण हुई है। नाक से गध ली जाती है तो गध भी गुण-रूप है। जिह्वा रस के लिये लालायित रहती है तो उसको भी गुण कहा है। त्वचा स्पर्श की दृष्टि से अपने स्वरूप को रखती है तो वह भी उसका गुण है। ऐसे पाच शाब्दिक गुण कहे गये हैं। और इन्ही गुणो को उन-उन इन्द्रियो का मूल कहा गया है। इस ससार का मूल इन्ही गुणो के मूल मे रहा हुआ है।

यदि आत्मा अपने लिये इस ससार का अन्त करना चाहती है या

ससार के दु खो से छूटना चाहती है अथवा ससार के गुणावगुणो से निवृत्ति लेना चाहती है तो उसे सर्वप्रथम इस ससार के मूल को देखना चाहिये तथा इसके मूल गुण को समझना चाहिये। जब तक ससार का मूल विद्यमान है, तब तक ससार मे दु ख की अवस्था, सन्तप्त जीवन का आधार तथा दोषपूर्ण परिस्थितिया भी विद्यमान रहेगी।

संसार का मूल कहां पर टिका हुआ है?

यह ससार जड और चेतन– दो तत्त्वो से मिल कर बना है। चर्म–चक्षुओ से जितना जो-कुछ सब ओर दिखाई देता है, वह सब-कुछ जड है। किन्तु जड स्वय चालित नही होता। उसे चलाने वाली होती है आत्मा, जो अरूपी होती है। ससार की रचना का मूलाधार हे जड एव चेतन का सगम। दिखाई देने वाली देह जड–स्वरूप होती है किन्तु उसकी सक्रियता का रहस्य उसकी आत्मा मे छिपा हुआ है। देह जब तक आत्मासहित होती है, तभी तक जीवित दिखाई देती है। ज्यो ही आत्मा देह को छोड देती है, देह निष्प्राण हो जाती है। उस मृत देह का फिर अन्तिम सस्कार किया जाता है।

चेतन रूप आत्मा भवभ्रमण करती हुई ससारी आत्मा कहलाती है। जब तक वह कर्मभार से लदी हुई रहती है, तब तक उसे फलप्राप्ति के रूप मे ससार मे भटकते रहना पडता है। कर्मो की समस्त निर्जरा के बाद उसे मोक्ष मिल जाता है। उसके ससार मे भटकते रहने का अर्थ है विभिन्न योनियो मे भटकना, अपने कर्मफल के अनुसार नये–नये शरीरो मे जन्म धारण करना तथा आयु पूरी करके उन्हे छोडते रहना।

आत्माओ के इसी जन्म–मरण के चक्र पर ससार का ससरण टिका हुआ है और आत्मा जन्म–मरण तब तक ही करेगी जब तक उसका मोक्ष नही हो जाता। मोक्ष नही होने से कर्मबध न्यूनाधिक अशो मे आत्मा के साथ सलग्न रहता ही है। यह कर्मबध पाप और पुण्य दोनो रूप मे हो सकता है।

जड रूप शरीर के प्रतीक चिह्न हैं उसकी पाचो इन्द्रिया, जो ससारिक सुखो का अपने-अपने माध्यम से आस्वादन लेती है। आत्मा चैतन्य स्वरूप होती है, किन्तु वह अपने शरीर के वश मे कितनी रहती है और अपने वश मे कितनी हो सकती है– यह सयम-साधना का प्रश्न है। किन्तु प्रारभिक सस्कारो से इन्द्रियो के सुख की ओर आकर्षण रहता है, अत ससार के मूल को इन्द्रिय–सुख पर टिका हुआ कहा जा सकता है।

इन्द्रियसुख या आत्मसुख?

ससार मे जो सारी हलचल है– सक्रिय व रचनात्मक वातावरण है

वह देहधारी आत्माओ की देन है। देह स्वय जड है अत उसका जड पदार्थों की तरफ आकर्षित होना स्वाभाविक है। निस्सन्देह आत्मा देह की सीमा मे बधी हुई होती है, किन्तु उसका विवेक ओर उसकी शक्ति विराट् होती है। यदि आत्मा की शक्ति दबी हुई है तो वह देह–वृत्तियो के अधीन होती है जिससे उसका झुकाव इन्द्रियसुख की तरफ ज्यादा बन जाता है। इन्द्रिया जितनी ज्यादा अनियत्रित अवस्था मे रहे, उतनी ही आत्मा की पराधीनता बढ जाती है। वैसी आत्माए ससार को इन्द्रियसुख का ही केन्द्र मानकर अपने विचार एव व्यवहार मे निकृष्ट बनती जाती हैं। तब इन्द्रियसुख आत्मा की तृष्णा एव आसक्ति के दलदल मे इस तरह फसा देता है कि उस आत्मा का निस्तार दुष्कर हो जाता है।

इन्द्रियसुख पर टिका हुआ ससार निश्चय ही दु खो का स्थान है, किन्तु ससार ही ऐसा भी स्थान है, जहा इन्द्रियसुख को नियत्रित करके आत्मसुख की उच्चतम ऊचाइया भी प्राप्त की जा सकती हैं। इस दृष्टि से ज्ञान एव कर्म की ज्योति जगाई जाए एव प्रबुद्ध वातावरण का प्रसार किया जाए तो ससार के इस मूल मे यत्किचित् परिष्कार किया जा सकता है। जहा तक शरीर है, इन्द्रियो का आवश्यक पोषण तो होता ही है, किन्तु भावना का परिवर्तन कर दिया जाए कि आत्मसुख को परिपूर्ण बनाना ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, अत इन्द्रियसुख के लिये आत्मसुख के पथ से भटकना अनुचित है। राज्य एव समाज की व्यवस्था को भी ऐसा रूप दिया जा सकता है जो इन्द्रियसुख को महत्त्वहीन बना सकता हो। इन्द्रियसुख का मिल जाना कुछ और परिणाम लाता है और इन्द्रियसुख को प्राप्त करने के लिये चेष्टाए–कुचेष्टाए की जाती हैं, उनका परिणाम भयकर होता है। हिसा, असुरक्षा, अपराध, नीतिहीनता आदि का जो दौर–दौरा समाज में चलता है तथा जो व्यक्ति को पीडित बनाता हे, वह इन चेष्टाओ–कुचेष्टाओ से पैदा होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सामूहिक एव सामाजिक प्रयास किये जाए तो इस ससार के मूल को कुछ इस तरह परिवर्तित किया जा सकता है कि वह पुण्यबध का कारण बने, पापबध का नहीं तथा आत्म–सुख को प्राप्त करने के उत्साह एव मार्ग को प्रशस्त बना सके।

संसार के मूल तथा वातावरण में परिवर्तन

मूल गुण मे परिवर्तन यत्किचित् रूप मे भी लाया जा सके तो देह वृत्ति की प्रबलता कम होकर आत्म–वृत्तिया अधिक सजग बन सकेगी। तब ससार इतना दु खदायी नही रहेगा। यह कैसे हो सकेगा– इसके लिये

तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखना होगा। हमारे देश मे सामान्यत नैतिकता का स्तर अच्छा नही है। दूकान पर दूकानदार के होते हुए भी ग्राहक चोरी करने की नीयत रखता है और कई बार ऐसी घटनाए सुनने मे भी आती हैं। कुछ देश ऐसे भी बताये जाते है जहा अखबारो की अथवा किन्ही अन्य दूकानो पर दूकानदार बैठता भी नही है। ग्राहक अपने-आप पसन्द की चीज ले लेता है और उस पर लिखे मूल्य के दाम वहा रखे डिब्बे मे डाल देता है। यह भी नैतिकता का एक स्तर है। समुचित प्रयास करने पर इस नैतिकता को काफी ऊपर तक भी उठा सकते हैं कि नागरिक व्यक्तिगत स्वार्थों को कम महत्त्व देकर सामूहिक हितो को अधिक महत्त्व देने लगे।

ससार के मूल मे इस प्रकार परिवर्तन लाना सत्प्रयासो के बल से सभव हो सकता है। प्रयास जितनी प्रगाढ निष्ठा से किये जायेगे, उतने ही सुखद परिणाम भी सामने आ सकेगे। मूल गुण मे परिवर्तन लाने पर यहा के समग्र वातावरण मे भी पर्याप्त परिवर्तन लाया जा सकेगा। यह परिवर्तन यदि एक समान्य स्तर तक भी पहुचा दिया जाता है, तब भी ससार के दु खपूर्ण स्वरूप मे बहुत-कुछ बदलाव आ सकता है।

ससार का मूल बदल जाए, यह स्थिति नही है और ससार का क्रम रुक जाए यह भी स्थिति नही है। केवल उस मूल का झुकाव थोडा बदल जाए– देहवृत्ति एव इन्द्रियसुख से आत्मवृत्ति एव आन्तरिक सुख को प्रधानता मिल जाए तो राग-द्वेष, वैर-विरोध, लोभ–सचय, अपराध–हिसा के वातावरण मे अवश्य ही अन्तर आ जाएगा और साधारण रूप से नैतिक वातावरण बन जाएगा।

अपने मूल स्वरूप पर आत्मचिन्तन का क्रम भी पनपे

ससार के मूल गुण मे जो बदलाव आ सकता है, वह मुख्यत इसी स्थिति पर कि अपने मूल स्वरूप पर आत्मचिन्तन का क्रम भी पनपे। सारे वातावरण मे मानवीय सभ्यता का विकास तभी परिलक्षित होगा, जब आदमी अपने लिये कम और दूसरो के हित के लिये ज्यादा फिक्र करने लगेगा। आत्मचिन्तन इस मानवीय पक्ष को अधिकाधिक उभारेगा कि जड–चेतन का सम्बन्ध होते हुए भी चेतन प्रधान है और वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करे– यह आत्म–चिन्तन की मुख्य दिशा होनी चाहिये।

चेतन तत्त्व की प्रधानता का अर्थ यह होगा कि चेतन जड से नियन्त्रित नहीं हो वल्कि चेतन जड का नियन्त्रण करे ओर उसे अपने विकास के अनुरूप ढाले। शास्त्रकारो का सकेत है कि जड के प्रति चेतन की मूर्छा



मन की गहरी एकाग्रता

श्री दृढरथ नृप तो पिता, नन्दा थारी माय।
रोम रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय।।

शीतलनाथ भगवान् की प्रार्थना शीतलता एव शान्ति को अभिव्यक्त करने के लिये है। प्रभु के स्वरूप की दृष्टि से जब भव्य आत्माए चिन्तन करती हैं, तब उनके सामने अपना निज का स्वरूप अभिव्यक्त होता है। सिद्ध परमात्मा का बार–बार प्रत्येक घडी, प्रत्येक पल और प्रत्येक समय मे यदि निरन्तर चिन्तन चलता है तो आत्मा की जो छिपी हुई सिद्ध अवस्था है, वह धीरे–धीरे प्रकट होती चली जाती है।

इसलिये ज्ञानीजन का कथन है कि एक क्षण भी सिद्ध स्वरूप के चिन्तन के बिना नही जाने देना चाहिये। जितने समय तक मनुष्य दूसरे विषयो का ध्यान करता है तथा सिद्ध स्वरूप को भुला देता है, उतने समय तक वह परमात्मस्वरूप से यानी कि अपने ही आत्मस्वरूप से दूर हटता है। इस दूर हटने का स्पष्ट परिणाम यह होता है कि वह अपने आत्मस्वरूप पर कर्मों के नये–नये आवरण चढाता जाता है।

चिन्तनधारा का प्रवाह और संसारचक्र

यह ससार का चक्र है कि मनुष्य बार-बार सिद्ध स्वरूप के चिन्तन से फिसल जाता है और उसकी चिन्तनधारा का प्रवाह ससार के अन्यान्य विषयो की तरफ मुड जाता है। जिस विषय का जिस–जिस रूप मे मनुष्य चिन्तन करता है, उस–उस विषय के कर्मों के आवरण का उसकी आत्मा पर चढने का प्रसग उपस्थित होता है। सच पूछे तो इसी ससारचक्र के कारण आत्मा हलुकर्मी नही बन पाती है।

कोई साधक सोचता है कि जब मैं ध्यान करने के लिये बैठता हू तो वह ध्यान कुछ व्यवस्थित नही बनता है तथा दूसरे ही क्षण उसका स्थायित्व भी टूट जाता है और निरन्तर ध्यान तो जैसे चलता ही नही है– ऐसा क्यो

होता है? साधक जब ऐसा अनुभव करने के बाद भी यह अनुसधान नही कर पाता कि ध्यान के समय ऐसी चल–विचल अवस्था क्यो होती है तो वह ध्यान करने की वृत्ति से ही उपेक्षित होने लग जाता है। इस करण किसी भी साधक को अपनी साधना मे आने वाली किसी भी बाधा से घबरा कर नही बैठ जाना चाहिये बल्कि उस बाधा के कारण की गहराई मे उत्तर कर उसे दूर करने का यत्न करना चाहिये।

बाधा के कारण की खोज उसे अपनी ही चिन्तनधारा के प्रवाह मे करनी होगी। उसे आत्म–निरीक्षण करना होगा कि वह अपने चिन्तन और ध्यान मे पटरी पर से कहा उतरा है? परमात्म एव आत्मस्वरूप के केन्द्र से हटकर उसकी चिन्तनधारा किस विपरीत दिशा मे बह चली है? तब उसे वह बिन्दु नजर मे आ जाएगा जहा से गाडी पटरी पर से नीचे उतरी होगी। फिर उसका निश्चय दृढ होगा तो वह अपनी चिन्तनधारा को सही मार्ग पर ले आएगा।

समस्याओं से घिरा मनुष्य और मजबूती की बात

अपने जीवन मे मनुष्य के सामने बहुतेरी समस्याए होती हैं, जिनमे कई बार वह इतना उलझ जाता है कि चाहते हुए भी स्वरूप–चिन्तन नही कर पाता है। दृढ निश्चय की कमी वहा अवश्य होती है। किन्तु कदाचित् समस्याओ की मजबूरी भी होती है। यह मजबूरी भीतरी मजबूती के बिना कई बार इतनी घातक हो जाती है कि वह समस्याओ के दलदल से उबर ही नही पाता। परिणाम यह होता है कि इस दलदल मे फस कर वह और नीचे गिर जाता है तथा आत्मस्वरूप के चिन्तन से बहुत दूर चला जाता है।

ससार की समस्याए भी मनुष्य के सामने मुह बाए खडी रहती हैं। उनका समाधान यदि सासारिक व्यक्ति नहीं करता है तो उसके लिये समुचित ढग से अपना जीवन–निर्वाह करना भी दूभर बन जाता है। किन्तु वह प्रबुद्धचेता-मनुष्य जो सिद्ध एव आत्मस्वरूप का गहराई से चिन्तन करता है तथा सासारिक समस्याओ के समाधान का उससे अच्छा तालमेल बिठा लेता है, तो वह अपने जीवन मे सफलता भी प्राप्त कर लेता है। जरूरत इस बात की होती है कि वह अपनी मजबूरी मे उलझ न जावे तथा सासारिक समस्याओ का भी मजबूती से अनुकूल समाधान निकाल ले। ऐसी अवस्था मे वह शानदार सन्तुलन निबाह सकता है, तटस्थ भाव से वह सासारिक प्रवृत्तियो मे आत्मोन्मुखी सुधार ला सकता है तथा आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग को भी निर्बाध बना सकता है।

पणिहारी का कुभ और सन्तुलन का विवेक

सन्तुलन के योग्य विवेक को जो भीतर विकसित कर लेता है, वह दोनो मोर्चो पर सफलता प्राप्त करता हे। उसमे ऐसी कला, ऐसा अवधान पुष्ट बन जाता है कि वह स्वरूप-चिन्तन को भी कभी विस्मृत नही करता। इस अवस्था के सम्बन्ध मे एक कवि ने सकेत दिया हे कि यह सन्तुलन का विवेक तथा साधना का क्रम किस रूप मे एकाग्र होना चाहिए एव किस प्रकार प्रत्येक क्षण मे लक्ष्य के प्रति उन्मुख रहना चाहिये–

ज्यों पणिहारी कुंभ न वीसरे,
अटवी न भूले .. ..

जिस प्रकार पनिहारी, पानी लाने वाली बहिन पानी के घडे पर घडा सिर पर रखकर कुए से घर की ओर आती है, उस समय वह बहिन अकेली नही रहती, कई बहनो के साथ चलती है और वे सब आपस मे घुल–मिल कर बाते करती हुई चलती है। एक भरे हुए घडे पर दूसरा भरा हुआ घडा और बातो की फटकारे, मगर मजाल है कि घडो का सन्तुलन कहीं जरा-सा भी बिगड जाए, बल्कि बीच मे उसका छोटा बच्चा रोता हुआ मिल जाए तो उसे भी बगल मे उठा लेती है। बातो-बातो मे ऐसा ही प्रसंग आ जाए तो प्रमोदवश दोनो हाथो से तालिया भी बजा लेती है। ये सब काम करते हुए भी उसका ध्यान एक क्षण के लिये भी घडो पर से नही हटता है। यदि घडो पर से उसका ध्यान हट जाए तो निश्चय ही घडे नीचे गिर कर फूट जाए। और बहू का घडा फूट जाए तो आप जानते है कि सास क्या कहेगी। वह कहेगी कि हे हियाफूटी, तू मन को घडो मे बराबर रखती तो घडे नही फूटते। सावधान बहुए सास का इतना-सा भी उपालभ नही लेना चाहती है– इस वास्ते वे घडो के प्रति पूरे तौर से एकाग्रचित्त रहती हैं।

यह पनिहारी के कुभ का जो दृष्टान्त है, बहुत ही ज्ञानदायी है। गहराई से नजर डाले तो इसमे जीवन के समग्र विकास का रहस्य छिपा हुआ है कि ससार मे रहते हुए भी मनुष्य किस प्रकार सन्तुलन के विवेक को जाग्रत् रखकर अपना आत्मविकास साध सकता है? इसमे मूल रूप से रहा हुआ है मन की एकाग्रता का प्रश्न।

मन की एकाग्रता बनी हुई रहे तो हियाफूटा काम नहीं होगा

पनिहारी के कुभ की सुरक्षा का रहस्य उस के मन की एकाग्रता मे रहा हुआ है। यदि कही पर उसकी यह एकाग्रता टूट जाए और घडा फूट जाए तो उसको अपनी सास से 'हियाफूटी' का उपालभ सुनना पडेगा।

'हियाफूटा' का अर्थ तो आप जानते होगे कि जिसका हृदय सज्ञाशून्य हो जाए। किसी का हृदय सज्ञाशून्य हो जाए तो फिर वह जो भी काम करेगा, निश्चय ही वह काम बिगडेगा। हियाफूटा काम किसी को नही सुहाता, मगर ऐसे काम से कोई तभी बच सकता है, जब वह अपने मन को उस काम मे एकाग्र बना ले। मन की एकाग्रता जहा जम जाती है वहा कामयाबी मिलती ही है। पनिहारी के मन की एकाग्रता उसके कुभ को कही भी नही गिरने देती।

आप सोचे कि मनुष्य पनिहारी की तरह मन की एकाग्रता की साधना क्यो करे? पानी के घडो के समान मनुष्य का यह लक्ष्य है कि वह अपने आत्मस्वरूप को समझकर अपनी आत्मा को कर्म मैल से निर्मल बनाने के काम मे मन की पूरी एकाग्रता से जुटा हुआ रहे। पनिहारी को घडे सन्तुलन के साथ कुए से घर तक पहुचाने होते हैं, तो मुनष्य-जीवन मे अपनी आत्मा को ससार से सिद्धस्थल तक पहुचाने का दायित्व रहा हुआ है। पनिहारी दूसरो से बाते भी करती है और कई काम दूसरे भी कर लेती है मगर एक क्षण के लिये भी घडो को भूलती नही है, उसी प्रकार मनुष्य अपने सासारिक जीवन मे रहते हुए और ससार के हजारो काम करते हुए स्वय को नहीं भूले ऐसी मन की एकाग्रता जब मनुष्य दृढतापूर्वक सम्पादित कर लेगा तो उसके लिये यह आत्मविकास का महद् कार्य कठिन नही रह जाएगा।

मन को एकाग्रता के साचे मे ढाल लेने के बाद मनुष्य के सामने ससार के सभी सुख और सुविधाए आती हैं, वैभव एव विलास के साधन भी उपस्थित होते हैं, लेकिन वह उनके बीच मे भी तटस्थ भाव से चलता है और एक क्षण के लिये भी आत्मचिन्तन से दूर नही हटता। सासारिक सुख के सामने वह अपने मन की गतिविधि को बिगाडता नही है बल्कि मन की साधना के क्रम को बनाये रखता है। मन की एकाग्रता जब बनी हुई रहती है तो 'हियाफूटा' काम तो नही होता सो नही ही होता है बल्कि एकाग्र मन का साधक अपनी आत्मा का विकास सहज ही मे साध लेता है।

मन को एकाग्र कैसे रखे?

योग साधना की दृष्टि से लोग एकाग्र ध्यान करके मन को एकाग्र बनाने का प्रयास करते हैं किन्तु मेरा मानना है कि यदि मनोवैज्ञानिक रूप से एव भावनात्मक ढग से मन मे लक्ष्य के प्रति गहरी रुचि पैदा कर दी जाए तथा सम्यक् निष्ठा जगा दी जाए तो फिर एकाग्रता का अभ्यास काफी आसान हो जायेगा। आप अपने गृहस्थाश्रम मे अनुभव करते होगे कि जब आप

कोई नया बिजिनेस खोलते हैं और उसमे कमाई की अच्छी गुजाइश दिखाई देती है तो आप कितने एकाग्र मन से उसमे जुट जाते है– न वक्त का ध्यान, न खाने का खयाल। जानते हैं ऐसा क्यो होता है? एकमन होकर उस काम मे आप केसे लग जाते है? यह एकाग्रता इसी कारण जन्म जाती है कि आपके सामने आपका लक्ष्य साफ तौर पर खडा रहता है कि बिजिनेस को जमाना है और ज्यादा-से-ज्यादा नफा कमाना है। दुनिया के नफे से बढकर आत्मा का नफा होता है जो आपको मोक्ष तक ले जा सकता है। अगर आप आत्मा के लक्ष्य को अपने सामने रखकर तथा उस लक्ष्य को प्राप्त करने के काम मे उत्साह से जुट जावे तो मन की सुघड एकाग्रता का निर्माण हो सकेगा।

मै कहूँ कि जब तक बहिने कुओ से पानी भर कर लाती थी, तब शायद वे मन की एकाग्रता का आसानी से अभ्यास कर लेती थी। लेकिन अब तो नल से पानी आता है अत शरीर की क्षमता भी कम हो गई है तो मन की एकाग्रता भी घट गई है। मन यदि एकाग्र और पवित्र रहता है तो उसके साथ परमात्मा का ध्यान और आत्मा का ध्यान भी जुडा हुआ रहता है। मन की एकाग्रता के साथ और अन्दर की लगन से शास्त्रो के पठन–पाठन, सन्तो के सत्सग तथा परमात्मा के ध्यान का निरन्तर अभ्यास किया जावे तो कल्याण का साधन बन जाता है।

लक्ष्य की प्रति स्पष्टता एव लगन होने की दशा मे मन की एकाग्रता का अभ्यास बनने लगेगा। इसके साथ ही सिद्ध–स्वरूप का सदैव स्मरण करते रहना चाहिये। गृहस्थाश्रम मे रहते हुए चाहे कोई खेती करता हो या अन्य घरेलू कार्य करता हो, परमात्मा के ध्यान को सदा सामने रखेगा तो धीरे–धीरे ही सही, उसकी आत्मशुद्धि होती जायेगी। विशेष रूप से व्यापारीवर्ग मे ऐसी चेतना जल्दी जागनी चाहिये क्योकि यह वर्ग चतुर एव विचक्षण होता हे ओर सदा अपने जीवन को सम्हाल कर चलने वाला होता है। किसी भी उद्देश्य के पीछे जीवट से चलने का भी इस वर्ग को अभ्यास होता है। अत मन को एकाग्र बनाने तथा एकाग्र मन से आत्मोत्थान की दिशा मे आगे बढने का आदर्श अवश्य ही व्यापारी वर्ग को पहले प्रस्तुत करना चाहिये।

मन, वचन, काया के व्यापार में मुनाफा कब होगा?

व्यापारी वर्ग सवसे अधिक चतुर भी होता हे तो उसे मुनाफे से भी सवसे अधिक लगाव होता हे। व्यापारी की तो प्रतिष्ठा ही यह होती हे कि वनियें का वेटा कभी भी विना मुनाफे कोई काम नही करता। एक किस्सा हे कि एक आदमी ने वनियें से टके का गुड मागा। बनिये को ध्यान नही रहा,

उसने टके का गुड तोल दिया और ग्राहक ने जो टका फेका था वह गुड से चिपक गया। इस तरह गुड और टका दोनो ग्राहक के पास पहुँच गये। फिर भी वह बोला— आखिर बनिये का बेटा है मुनाफे के बिना काम थोडे ही करता है, कुछ-न-कुछ तो फिर भी कमाया ही होगा। कहने का मतलब यह है कि बनिये का नाम मुनाफे के साथ जैसे जुडा ही रहता है।

हमारे शास्त्रो मे मन वचन एव काया की वृत्तियो को भी व्यापार का नाम दिया गया है। मन की चचलता के साथ जब ये वृत्तिया कार्यरत बनती हैं तो वे आत्मा को उसके लक्ष्य से डिगाने वाली होती हैं। इस व्यापार को आप घाटे का व्यापार ही मानेगे। किन्तु यदि मन को एकाग्र बनाकर वह व्यापार चलायेगे तो मन, वचन काया से सत् प्रवृत्तियो का ही सचालन होगा और वे प्रवृत्तिया जितनी श्रेष्ठतर बनती जायेगी, उतनी ही आत्मा की गुणस्थान स्थिति ऊपर चढती जायेगी। तब वैसा व्यपार पूरा मुनाफे का व्यापार होगा।

आप मे से कई व्यापारी होगे। आनाज, कपडे या सोने-चादी के व्यापार मे भले ही आप मुनाफा कमाते होगे, किन्तु अपने अन्त करण के अन्दर उतर कर देखिये कि आप मन, वचन एव काया के व्यापार मे भी मुनाफा कमा रहे हैं या नही? अगर आपके इस व्यापार मे घाटा लग रहा है तो क्या आपके व्यापारी नाम को सार्थक माना जाए? व्यपारी वर्ग की चतुराई तो इसी मे मानी जाती है कि जिसमे ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा हो, उसी काम मे वह अपना समय और अपनी शक्ति को लगाता है। मन, वचन काया के शुभ व्यापार मे अधिक-से-अधिक उत्कृष्टता तक आप पहुच सके व आत्मशुद्धि को प्राप्त कर सके— उससे अधिक मूल्यवान मुनाफा भला किस व्यापार मे मिल सकता है? इसके लिये आप लोगो मे जागृति आनी चाहिये कि आप मन की गहरी एकाग्रता का अभ्यास करके आत्मविकास की ओर गति करे तथा दूसरो को भी इस दिशा मे प्रेरित करे।

मन की गहरी एकाग्रता से जीवन बोझिल नहीं बनेगा

मन वचन एव काया के योग-व्यापार को जो 'कु' से 'सु' की ओर मोड लेता है, उसके जीवन मे एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आ जाता है। जीवन मे विभिन्न सासारिक समस्याओ का जितना बोझ महसूस किया जाता है, ममताभाव के कारण होता है। पदार्थों एव व्यक्तियो के साथ जितनी जटिल रागवृत्ति होती है, समस्याओ का बोझा उतना ही कष्टकर भी लगता है। किन्तु मन की गहरी एकाग्रता से जो परिवर्तन आता है वह जीवन के इस बोझ और उसके कष्टो की अनुभूति से मुक्ति दिला देता है।

जब यह योग-व्यापार शुभ बनता है तथा मन की एकाग्रता सध जाती है तो ममताभाव घटने लगता है तथा उसके स्थान पर एक तटस्थ वृत्ति का जन्म होता है जो विकसित होकर समताभाव का रूप ग्रहण कर लेती है। मन, वचन, काया के योग-व्यापार मे समता भाव के समावेश के बाद मनुष्य सासारिक काम तो करता है किन्तु उस पनिहारी की तरह, जो घडे सिर पर रखे बाते करने, बच्चे को उठाने या ताली तक पीटने के सारे काम कर लेती है, लेकिन घडे के प्रति एक क्षण के लिये भी ध्यान को नही हटाती है। समताभाव का साधक सासारिक कार्य करते हुए भी उनमे राग–वृत्ति नही रखता है तथा कर्तव्य समझ कर तटस्थ भाव से उन्हे पूरे करता है तो वे कार्य उसके लिये न तो बोझिल होते है और न ही कष्टकर। पनिहारी के घडो की तरह प्रतिक्षण उसका ध्यान आत्मस्वरूप के चिन्तन मे लगा ही रहता है।

मन की गहरी एकाग्रता से ही समता भाव की साधना सम्भव बनती है और समता भाव से जीवन कर्तव्यनिष्ठ, हल्का तथा आनन्दकारी बनता है।

मन की एकाग्रता तथा शीतलता का रसास्वादन

आप प्रत्येक क्षण सिद्ध भगवान् को मन एव मष्तिष्क मे रखिये। आपको अपना यह मानव–जीवन सार्थक करने हेतु जो सही ज्ञान एव सही निष्ठा प्राप्त करने का यह अवसर मिला है, उसको गफलत मे गुमावे नही। मन की एकाग्रता से सिद्ध भगवान् का स्मरण करेगे तो निश्चय ही जीवन मे आप शीतलता एव शाति का रसास्वादन भी कर सकेगे।

आप शीतलनाथ प्रभु का ध्यान करने से शीतलता एव शाति कैसे प्राप्त कर सकेगे– इसका एक सीधा मनोवैज्ञानिक प्रयोग मै आपके सामने रखू। आपने तीतर जाति के पक्षी को देखा होगा। लोग उसको पिजरे मे बन्द करके रखते है। तीतर चाहे खुला हो या पिजरे मे– जब वह बोलता है तो जो भी सजातीय तीतर उसका बोलना सुनते है, वे सब उसके चारो ओर जमा हो जाते हैं। उसको सजातीयता पर इतना अधिक विश्वास होता है। तीतर स्वजातीय भाई की आवाज सुनकर जैसे आता है वैसे ही आत्मा रूपी तीतर भी, जो कर्मो के पिजरे मे बन्द है, खुल कर आवाज करे और बार–बार याद करे तो इसके सजातीय तीतर क्या आत्मा को प्रेरणा नही देगे? वे सजातीय तीतर हैं सिद्ध भगवान् जिनकी आप प्रार्थना करते रहे तो उनके आदर्श का सम्बल आपको अवश्य ही मिलेगा, किन्तु यह प्रार्थना सदा मन की एकाग्रता के साथ होनी चाहिये।

एक हि साधे सब सधे

शास्त्रकारो ने मन को ही बध अथवा मोक्ष का कारण माना है। मन चचल और अनियत्रित है तो कर्मबन्ध का भार बढता ही रहेगा, किन्तु अगर यही मन एकाग्र और सयमी बन जाए तो आत्मा को मोक्ष की मजिल तक पहुचा देता है। इसलिये मन को दृष्टि मे रख कर ही कहा गया है कि एक हि साधे सब सधे– अर्थात् एक मन को जिसने साध लिया, समझिये कि उसने आत्मविकास की सारी समस्याओ को सुलझा लिया है।

सिद्ध-स्वरूप जब एकाग्र प्रार्थना के माध्यम से मन को छूता हुआ अन्त करण की भीतरी गहराइयो मे पहुचेगा तब वह आत्मस्वरूप को जाग्रत् बनायेगा जिसकी जागृति आठ कर्मों की बेडियो को भी तोडेगी तो चैतन्य को सासारिकता से मुक्त करके सिद्ध भगवान् के समक्ष पहुचा देगी।

*****

6

ममता की मार · समता का सुख

जय जय जिन त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार
आर्त रौद्र परिणाम–थी, उपजे चिन्ता अनेक।
ते दुख कापो मानसिक, आपो अचल विवेक।।
रागादिक क्षुधा तृष्णा, शस्त्र अस्त्र प्रहार।
सकल शरीरी दुख हरो, दिल सू विरुद्ध विचार।।

शीतलनाथ परमात्मा के पवित्र चरणो मे कवि ने अपने हार्दिक भावो के पुष्प चढाये हें। भव्य आत्माए जब साधना के मार्ग पर आगे बढने का प्रयास करती हें तो वे उस मार्ग मे आने वाली आपत्तियो एव कठिनाइयो का पहले ही अनुमान कर लेती हें तथा उनसे सफल सघर्ष करने की तैयारी मे जुट जाती हें। किन्तु जब प्रयत्न करने मे भी कठिनाई आती है एव उस कठिनाई का जव अन्य तरीको से निवारण नही होता हे, तब नि सकोच प्रभु के चरणो मे अपने दु ख की वात कही जाती हे। इस दृष्टि से प्रभु की प्रार्थना एक ऐसे सम्वल का काम देती हे, जो निराशा के घने बादलो को चीर कर आशा का सूर्य उगा दती हे। प्रार्थना प्रभु का स्वरूप सामने रहने के लक्ष्य की ओर आगे वढाती हे तथा बीच की आपत्तियो को दूर हटाने का साहस प्रदान करती हे। प्रार्थना ममता की मार से वचाती हे तो समता के सुख की प्रदाता बनती हे।

साधना–पथ की सबसे बड़ी बाधा है ममता!

साधना का पथ वीहड, कटीला ओर पग–पग पर आपदाओ से भरा हुआ होता हे। उस पर स्वस्थ गति से चलना सहज वात नही है। जरा–सी भी कमजोरी या असावधानी मनुष्य को उस मार्ग से उथल–पुथल कर सकती ह। ऐसी चल–विचल अवस्था मे प्रभु का सम्वल ही सहायक हो सकता है। मनुष्य जव इस सम्वल को मजवूती से पकड लेता है तो वह अपने चित्त को

पुन साधना मे एकाग्र बना कर सावधानीपूर्वक आगे चल पडता है।

साधना–पथ की सबसे बडी बाधा है– ममता। जब दैहिक वृत्तिया एव इन्द्रिया आत्मा को ससार के पौद्‌गलिक सुखो की तरफ आकर्षित करके उनमे विमुग्ध बनाती हैं तो मनुष्य के मन मे यह ममता यह मेरापन जागता है। अपने प्रियकारी सुखो, पदार्थों तथा व्यक्तियो के प्रति उसके मन मे राग पैदा होता है कि ये सब मेरे हैं और उनके अलावा दूसरो को अप्रियकारी मानकर उनके प्रति वह द्वेष–बुद्धि बनाता है। राग एव द्वेष का यह चक्र ही सासारिकता का मूल तथा साधना–पथ का शूल होता है। इस चक्र से पक्षपात वैर और हिसा का जन्म होता है जो आत्मा को अन्याय, अनीति तथा दुष्टता के दुर्गुणो से कलकित बनाते हैं।

कवि ने आत्मा की इसी आन्तरिक समस्या का उल्लेख करते हुए सकेत दिया है कि इसी ममता के कारण आर्त एव रौद्र परिणामो का जहर फैलता है। ये परिणाम मन को विकृत बना देते है– साधना की मजबूती को डिगाने के बाद आत्मा को कर्मबध की कलुषितता की ओर खीचते हैं। उस समय अनेक प्रकार की चिन्ताए उपजती हैं। एक ओर साधक अपने पथ पर टिके रहने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर ये चिन्ताए उसके मन को डगमग करती रहती हैं। ममता के बन्धन उसे उत्तेजित बनाते हैं। शुभ एव अशुभ परिणामो के इस सघर्ष मे वह सफल बन सकता है तो केवल प्रभु की प्रार्थना के बल से। प्रभु का आदर्श जीवन जब उसके सामने स्पष्ट होता है तो उससे वह प्रेरणा ग्रहण करके इस ममता से लडता है और अपनी सजग विचारणा मे तटस्थता लाता है। तब तटस्थ भावो को मजबूत बना कर वह समता को अपने जीवन मे समा लेने का शुभ प्रयास करता है।

ममता की मार से आत्मिक अनुभावों का सर्वनाश

जीवन मे ममता का विषवृक्ष जब बडे-से-बडा रूप लेता हुआ फैलता है तो वह आत्मिक गुणो को नष्ट करता हुआ फैलता है। ममता की मार से मनुष्य पशु बनता जाता है। सभी धर्मों ने इस मनुष्य–जीवन को अमूल्य इसीलिये कहा है कि इसी जीवन मे ऊची से ऊची साधना सफल बनाई जा सकती है। मनुष्यता के अनुभाव को भी इसी कारण एक आत्मिक गुण माना गया है। मुनष्य अपनी साधना से जब समता की स्थिति प्राप्त कर लेता है तो उसमे उस देवत्व का विकास हो जाता है जो मोक्ष की दिशा मे गति कराता है। किन्तु यह ममता मनुष्य को अपने मनुष्यत्व से ही पतित नही बनाती बल्कि उसे पशुत्व के ओछेपन मे घसीट कर क्रूर एव हिसक बना देती है।

जहा तक समता के व्यक्तिगत प्रभाव का प्रश्न है, यह अपने सकुचित घेरो मे बन्द करके व्यक्ति के जीवन को निकृष्ट बना देती है। किन्तु यह व्यक्तिगत प्रभाव जब सामूहिक रूप लेता है तो जातिभेद, सम्प्रदायभेद, समाजभेद और राष्ट्रभेद पेदा करता है, जिनके जहरीले वातावरण मे उपद्रवो तथा युद्धो की सर्वनाशी लीला उपस्थित होती है। ऐसी स्थिति को ममता के विशाल विषवृक्ष की उपमा दी जा सकती है, जिसकी विनाशकारी छाया मे आत्मिक अनुभावो का सर्वनाश-सा होने लगता है।

यह ममता सम्पत्ति से लेकर जब सत्ता तक दौड लगाती है और मनुष्य जब ममता की मार से मर्माहत होकर अपनी आत्मिक सुध–बुध खो देता हे, तब व्यक्ति की समस्याए तथा सामूहिक परिस्थितिया भयानक रूप ले लेती हें। आप अपने चारो ओर नजर दौडाये तो दिखाई देगा कि सम्पत्ति की ममता मे कई बार निकट सम्बन्ध भी छोटे और झूठे हो जाते हैं। भाई–भाई ओर पिता–पुत्र तक ममता की चपेट मे आ जाते है तो अपना कर्तव्य या सम्बन्ध ही नही भूल जाते बल्कि एक-दूसरे के खून के प्यासे तक बन जाते हैं। यह मान लीजिये कि जीवन मे ममता–भाव की जितनी प्रबलता है, वह आत्मिक अनुभावो को नष्ट करने वाली हे– उन्हे विकृत बनाने वाली है।

अशुभ वृत्तियों एवं शुभ वृत्तियों का संघर्ष

ममता से उत्पन्न अशुभ वृत्तिया जब एक साधक के मन पर हावी हो जाती हें ओर उसे अपनी गति के प्रति चिन्ताग्रस्त बना देती हें, तब उसके सामने अशुभ वृत्तियो एव शुभ वृत्तियो का सघर्ष पैदा हो जाता है। चिन्ताओ से व्यथित होता हुआ वह प्रभु से निवेदन करता है कि हे प्रभु मै आपके सन्मार्ग पर चल रहा हूँ, किन्तु मेरी इन चिन्ताओ का अन्त होना चाहिये– निश्चिन्त भाव से मन की दशा स्थिर बननी चाहिये।

साधक की वे चिन्ताए होती हें अशुभ वृत्तिया, जो आर्त एव रौद्र परिणामो से पनपती हे एव ममता के हिडोलो मे बडी होती है। यह आर्त की अशुभ वृत्ति क्यो आई? किस कारण से रौद्र का परिणाम पैदा हुआ? जीवन के साथ शुभ एव अशुभ वृत्तिया लगी हुई हें। ये दोनो वृत्तिया अनादि काल से घडी के इन काटो की तरह घूम रही हें। मनुष्य का मन कभी तो शुभ वृत्तियो म आ जाता हे तो कभी अशुभ वृत्तियो के घेरो मे फस जाता है। दो मिनिट के लिये शुभ भावना आई तो तभी अशुभ भावना जाग जाती हे।

अष्टकर्मयुक्त आत्मा मे ये दोनो वृत्तिया बनती-बदलती रहती हें। जब अशुभ वृत्तिया का उठाव होता हे तो मनुष्य के मन मे आर्त एव रोद्र ध्यान

प्रबल बनते हैं। आर्त ध्यान का तात्पर्य मनोज्ञ पदार्थों की तरफ आकर्षित होना तथा विमुग्ध बनकर उनको पकडने का प्रयास करना है। अमुक सयोग की कामना की, वह नही जुटा तो आर्त ध्यान पैदा हुआ। पुत्र की लालसा की चिन्ता हुई। पुत्र की प्राप्ति तो हुई, किन्तु पुत्र योग्य नहीं निकला तो फिर चिन्ता व्याप्त हुई। पुत्र कष्ट देने लगा तो चिन्ता और भडकी कि यह पुत्र कब मेरे से दूर हटे तो शान्ति मिले। आर्त ध्यान के परिणाम इस तरह ममता के ऊचे-नीचे थपेडो मे जोर पकडते रहते हैं।

मनोज्ञ पदार्थों की आकाक्षा, उनके प्राप्त न होने का दुख, योग्य व्यक्तियो के सहयोग की कामना, अयोग्य व्यक्तियो का असहयोग, प्रिय पदार्थों पर राग, अप्रिय पदार्थों से द्वेष, ये सब ममता के ऐसे विषय हैं, जिनके सयोग या वियोग से अशुभ भावनाए जागती हैं तथा आर्त एव रौद्र ध्यान के घातक परिणाम मानव-मन को चिन्तातुर बना देते हैं। आर्त एव रौद्र ध्यान भारी कर्म-बध एव आत्मा की मलिनता के कारण होते हैं। मोहग्रस्त मनुष्य की चिन्ताए सासारिक पदार्थों के केन्द्रबिन्दु से उठती हैं तथा उसके मन मे शुभ एव अशुभ वृत्तियो का सघर्ष छेड देती हैं।

निकाचित ममता का एक शिक्षाप्रद दृष्टान्त

महावीर प्रभु ने जीवन की इस वृत्ति का आचाराग सूत्र मे उल्लेख किया है। कहा गया है कि जो सयोग का अर्थी है, वह चाहता है कि उसे मनोज्ञ पदार्थों का अच्छे से अच्छा सयोग मिले, अर्थ सचय हो और अगर वैसा नहीं होता है तो वह उनकी प्राप्ति के लिये तिलमिलाने लगता है। वह सोचता है कि मेरे पास पूरा पैसा हो तो मुझे अच्छा सयोग मिलेगा। पैसा मिल गया तो क्या अच्छे सयोग के मिलने की गारटी है? एक अरबपति सेठ हो और उसकी पत्नी एकदम कर्कशा हो तो क्या वह पैसा उसे सुखी बना सकता है? असाता वेदनीय कर्म का उदय होगा तो अच्छे से अच्छा सयोग भी शान्तिदायक नहीं बन सकेगा, लेकिन इस शास्त्रीय ज्ञान को समझे कौन?

ममता मे मनुष्य की दृष्टि अधिकाशत बाहर की ओर रहती है। वह बाह्य पदार्थों को समेटने की तृष्णा मे डूबा रहता है। उसे काल-अकाल का भी खयाल नही रहता। एक दृष्टान्त है कि एक राजा और रानी अपने महल के झरोखे मे बैठे हुए थे। काफी रात बीत चुकी थी और रात अधेरी थी। पिछले सात दिनो से घनघोर बरसात हो रही थी तथा नदी-नाले पूर आ रहे थे। उस समय यकायक बिजली चमकी और राजा-रानी दोनो ने देखा कि एक दुबला-पतला बूढा आदमी लकडियो का गट्ठर सिर पर लादे कीचड़ मे

कठिनाई से चला आ रहा है। तभी रानी ने कहा– राजन्, आप तो फरमाते हैं कि आपके राज्य मे सब सुखी है, फिर यह इतना दु खी व्यक्ति कहा से आया? बिना दु ख के थोडी–सी लकडियो के लिये मौत के मुह मे कौन जाता? महाराज भी चिन्तित हुए, उसी समय प्रहरी से उन्होने उस व्यक्ति का पता लगाकर आने को कहा।

प्रात काल राजा ने उस व्यक्ति को अपने पास बुलवाया और उसके दु ख का कारण पूछा। वह बोला– महाराज, एक बैल तो मेरे पास है, दूसरे बैल के लिये मैं इतनी कडी मेहनत कर रहा हू। मैने सोचा कि बरसाती नदी मे काफी लकडिया बहकर आई होगी सो आधी रात मे वही गट्ठर लेकर मै आ रहा था। राजा दया से द्रवित हुए और उन्होने तुरन्त उसे एक अच्छा बेल दिलाने का आदेश दिया। तब वह व्यक्ति बोला मुझे साधारण बैल नही चाहिये– मेरे पास के एक बैल जैसा चाहिये। यह कहकर उसने राजा को अपना बैल देखने को आमन्त्रित किया।

राजा उसके साथ उसकी हवेली पर पहुचे। वह उन्हे अपने तहखाने मे ले गया। ज्यो ही उसने प्रकाश किया, राजा की आखे चकाचौध हो गई। हीरे, माणक, मोती, पन्नो आदि रत्नो से एक बैल की आकृति बना रखी थी जो करोडो का द्रव्य था। उसे दिखाकर उस अर्थलोलुप व्यक्ति ने कहा– राजन्, मुझे ऐसा दूसरा बैल चाहिये। इसके लिए ही मैं बरसती काली रात मे लकडियो का गट्ठर ला रहा था। राजा तो स्तब्ध रह गया।

सोचिये, ऐसी भीषण तृष्णा कौन जगाती हे? यही ममता– जो ससार की सारी सम्पत्ति और सत्ता को 'मेरी' बनाने पर तुल जाती है। मोहग्रस्त मनुष्य को चाहे जितना मिल जाए, उसके चित्त को शान्ति मिलती ही नहीं है।

शुभ वृत्तियों के प्रवाह में समता की समरसता

महावीर स्वामी का उदबोधन हे कि ममता से विमुग्ध एवं विमूढ बना व्यक्ति अर्थ का अर्थी बना रहकर कभी मुश्किल से ही सोच पाता हे कि उसका जीवन कहा जा रहा हे? वह पुण्य ओर पाप की व्याख्याए भी भूल जाता है। उसकी दृष्टि सदा अर्थ की ओर लगी रहती है। किन्तु वेसी अवस्था में भी जब किसी शुभ सयोग से शुभ वृत्तियो का प्रवाह उठता हे तो उस आत्मा के मनोभावो मे एक नया परिवर्तन आ जाता हे। ज्यो–ज्यो वह प्रवाह स्थिर गति से वहने लगता हे, समता की सौख्यपूर्ण भावनाओं का उदय होता हे। बीच के समय मे अशुभ एव शुभ वृत्तियो का सघर्ष चलता है, किन्तु जो मनुष्य उस सघर्ष मे अपनी आध्यात्मिकता को नही छोडता है, वह अशुभ

वृत्तियो को हरा देता है। तब शुभ वृत्तिया ही उस की मार्गदर्शक बन जाती हैं। शुभ वृत्तियो मे जब स्थायी रूप से मन रम जाता है तब वह समताधारी एव समतादर्शी बनकर समता–दर्शन का पालनकर्ता बन जाता है।

समता की समरसता प्राप्त करने के लिये ममता छोडनी पडेगी क्योकि ममता हटेगी तो लोभ हटेगा तृष्णा हटेगी तथा राग–द्वेष की अशुभ वृत्तिया हटेगी। ममता विद्वान् पर भी कैसी मार करती है– इसका एक विद्वान् का उदाहरण भी सुन लीजिये। एक राजा के दरबार मे एक दिग्गज विद्वान् भी था जो पूरी तरह धार्मिक क्रियाकाड के साथ रहता था। एक दिन राजा ने दरबार मे एक प्रश्न रखा कि पाप का बाप कौन? जब किसी से उत्तर न बन पडा तो राजा ने अपने दिग्गज विद्वान् से पूछा। वह भी तुरन्त उत्तर न दे सका। उसने एक सप्ताह का समय मागा जो राजा ने दे दिया किन्तु चेतावनी दी कि तब भी यदि वह उत्तर नही दे सका तो फासी पर लटका दिया जाएगा।

विद्वान् घबरा गया और रात को वहा से भाग निकला। पास के नगर मे पहुच कर रात्रि मे एक मकान के नीचे बैठ गया। एक सुन्दरी ने थूकने के लिये बाहर मुह निकाला और अपने मकान के नीचे चादनी रात मे एक व्यक्ति को बैठे हुए देखा तो वह नीचे उतर आई। उसने दरवाजा खोलकर पूछा– आप कौन हैं और यहा नीचे क्यो बैठे हुए हैं? विद्वान् तो घबराया हुआ था अपना परिचय देकर अपनी सारी समस्या कह गया। उसने कहा–'आप ऊपर चलिये, तब विद्वान् ने उसका परिचय पूछा। उसने कहा– मैं वेश्या हू। कर्मकाडी होने से उसने नाक-भौं सिकोडे। वेश्या ने काफी मनुहार की और दो सोने की मोहरे दक्षिणा मे दी। विद्वान् पिघला, ऊपर गया। वेश्या ने खूब स्वागत किया भोजन कराया और फिर प्रेम का अभिनय करके अपना जूठा पान चबाने का आग्रह किया। विद्वान् फिर अकड गये। उसने पाच सोने की मुहरे और दीं। तब वे पान भी चबा गये। जब वेश्या से वे काफी घुल-मिल गये तो पूछने लगे– मेरे प्रश्न का उत्तर बताओ। वेश्या ने कहा– मैंने उत्तर दे तो दिया है। यह आप सोने की मोहरो पर जो पिघलते रहे हैं यही तो उत्तर है कि पाप का बाप लोभ होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो शास्त्रकारो ने बात कही वह कितनी सही घटित होती है। ममता और लोभ से पाप का बोझ बढता है। किन्तु शुभ परिणामो एव शुभ वृत्तियो का प्रभाव बढता है तो समता का समरस प्रवाह अवश्य आत्मा को सच्चा आनन्द देता है।

समता का स्वरूप : आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक

वचन एव व्यवहार का कारणभूत होता हे विचार और समता का स्वरूप भी जन्म लेता है विचारो मे। विचारो मे फेली ममता ओर लोभ की भावना तथा अशुभ वृत्तिया जब घटती हैं तो शुभ वृत्तिया उनका स्थान लेती हैं। ये वृत्तिया जब स्थिर एव स्थायी रूप ग्रहण करती हैं, तब विचारो मे सबके प्रति समत्व की भावना समा जाती है। ममत्व यानी मेरापन अकेलेपन का– स्वार्थ का प्रतीक हैं, वहा समत्व समानता, लोक–कल्याण एव आत्मोत्थान का प्रतीक है– एक से सबकी ओर चलने का प्रमाण है।

समता का स्वरूप सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि एक का व्यक्तित्व सब प्राणियो मे समाहित हो जाता है। फिर अपना स्वार्थ लोकहित मे तिरोहित हो जाता है। विचारो मे समायी हुई समता सम्पूर्ण वचन एव व्यवहार को समग्र जीवन मे समत्त्वपूर्ण बना देती है।

जीवन एकान्त रूप से व्यावहारिक एव आध्यात्मिक खडो मे पृथक्–पृथक् विभाजित नही किया जा सकता है। मन, वचन, काया के योग व्यापार मे जब समता का प्रवेश होता है तो उसका सुप्रभाव व्यावहारिक क्षेत्र मे दिखाई देता है तो आध्यात्मिक मे भी। इसमे भी कोई सन्देह नही कि आगामी जन्मो की नीव इसी जन्म मे लगती है। यदि यह जन्म श्रेष्ठ बन जाता है तो अगले जन्म वैसे ही श्रेष्ठ बन जाते है। अत इस जन्म का कल्याण पहले अपेक्षित है। इसी रूप मे ससार और धर्म के क्षेत्र भी परस्पर पूरक माने जाने चाहिए। ससार मे रहते हुए आपका व्यवहार समतापूर्ण बन गया तो उसके सुप्रभाव से ससार (परिवार, समाज, राष्ट्र, प्राणी समूह– जो भी आपके सम्पर्क मे आते हैं) मे भी समतापूर्ण व्यवहार बनेगा और आध्यात्मिक क्षेत्र भी उज्ज्वल बनेगा।

समता उत्थानगामी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ गुण है। इस गुण की सुगन्ध जहा भी फैलेगी, वही आन्तरिक आनन्द का वातावरण बनेगा। सासारिक व्यवहार मे जितनी समतापूर्ण आध्यात्मिकता बढती है, वह ससार को अधिक नैतिक, अधिक सौजन्यपूर्ण तथा अधिक सहयोगी बनायेगी। एक समतासाधक परहित चिन्तक अधिक हो जाता है। इस दृष्टि से समता व्यावहारिक एव आध्यात्मिक दोनो क्षेत्रो मे लोक–कल्याण एव आत्मोन्मुखी प्रवृत्तियो की ओर सबको प्रेरित करेगी।

समता का अनन्त सुख

सम्पत्ति और सत्ता को अपने स्वार्थ के लिये अपने हाथो मे केन्द्रित करने की कुचेष्टा करने वाले व्यक्ति समझते हैं कि वे बहुत सुख का अनुभव

कर रहे है किन्तु उनका वह सुखाभास होता है– झूठा क्रूर और क्षणिक सुख। इसी सम्पत्ति और सत्ता को बल्कि अपने व्यक्तित्व तक को जो सबकी सेवा मे समर्पित कर देते है– समताधारी एव समतादर्शी बन जाते हैं इनका सुख अपार एव अनन्त होता है, एक-सा स्थायी और स्थिर सुख। वह सुख अन्त से फूटा हुआ परम आह्लादकारी सुख होता है।

समता के इस अनन्त सुख का रसास्वादन इसी मनुष्य–जन्म मे अपने सत्पुरुषार्थ से किया जा सकता है। प्रभु के वचनो को ध्यान मे रखकर अपने जीवन को सम्हालने की कोशिश करिये, क्योकि समता के अनन्त सुख से अनन्त शान्ति की उपलब्धि हो सकेगी।





आराधना का माध्यम : शरीर

सुज्ञानी जीवा भजलो रे जिन इक्कीसवा
जीव अजीव बध ये तीनो, ज्ञेय पदारथ जानो।
पुण्य पाप आश्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो।।

प्रभु के पवित्र ज्ञानालोक मे आत्मोत्थान का जो मार्ग प्रशस्त हुआ है, उसी मार्ग पर चल कर यह आत्मा भी उन जैसी पवित्र अवस्था को प्राप्त कर सकती है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी उसी दिव्य दृष्टि से अवगत हो सकेगा जिसके परिणाम स्वरूप प्रभु समग्र ससार को देखते हैं। वह दिव्य दृष्टि जिन माध्यमो के अवलम्बन से उपलब्ध होती है, उन माध्यमो को तथ्यात्मक दृष्टि से समझ लेना तथा फिर उनका सदुपयोग करते हुए उस निर्देशित मार्ग पर चल पडना नितान्त आवश्यक है। मार्ग की सही खोज करके उस मार्ग पर निष्ठापूर्वक गति करने से ही इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

प्रचलित व्यवहार का केन्द्र क्रियाशील शरीर

विचार एव वचन को क्रियात्मक रूप देने वाला शरीर होता है। सोचने और बोलने का परिणाम उसके अनुसार करने मे प्रकट होता है, बल्कि किसी के कार्य को देख कर ही उसके विचार एव वचन का अनुमान लगाया जाता है, क्योकि कार्य का रूप सब सरलता से समझ सकते हैं। सामान्यतया मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा बोलता है और जैसा बोलता है, वैसा करता है। सचाई और कुटिलाई का अनुमान भी इन तीनो की एकरूपता अथवा विभिन्नता के आधार पर किया जाता है। इस दृष्टि से शरीर का माध्यम ऐसा है, जिसकी क्रियाशीलता की दिशा जीवन के समग्र स्वरूप को व्यक्त करती है। क्रियाशील शरीर को प्रचलित व्यवहार का केन्द्र कह दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

जिस पुण्य के महत्त्वपूर्ण फल से शरीर का सृजन हुआ है, उसी

शरीर के अन्दर मन का महत्त्वपूर्ण यत्र कार्य करता है और उसी शरीर के सम्बल से वचन भी अपनी शक्ति को आगे बढाता है। शरीर की क्रियाशीलता के साथ ही नेत्र सारे दृश्यो को देखते हैं, कान शब्दो का श्रवण करते हैं जिह्वा रसास्वादन करती है, नासिका सूघती है एव त्वचा स्पर्श का अनुभव करती है। सबका प्रचलित व्यवहार केन्द्रबिन्दु शरीर है। मन और इन्द्रिया तभी तक गतिशील हैं, जब तक यह शरीर क्रियाशील है।

शरीर इससे भी ऊपर आत्म–विकास के प्रबल माध्यम एव सहायक तत्त्व के रूप मे रहा हुआ है। इस शरीर की स्थिति को भी शास्त्रकारो ने पुण्य का फल तो बतलाया ही है, लेकिन यह भी कहा है कि इसी शरीर के सदुपयोग से पुण्योपार्जन भी किया जा सकता है। इसीलिए पुण्यबध के कारणो का निर्देशन करते हुए मनपुण्य एव वचनपुण्य के बाद 'कायपुण्य का भी कथन किया गया है। पुण्यफल के रूप मे यह काया मिलती है तथा इससे फिर पुण्य कमाया जा सकता है। शरीरो मे मानव–शरीर सर्वाधिक समर्थ होता है कि जिसके माध्यम से ऊचे-से-ऊचे आचरण की आराधना करके आत्मविकास के चरम लक्ष्य तक भी पहुचा जा सकता है। मानव–तन को शास्त्रो मे इसी हेतु से दुर्लभ बताया है।

शरीर के माध्यम से धर्म की अराधना

शरीर की क्रिया–प्रक्रियाओ से पुण्यकर्म का बध कैसे किया जा सकता है– इसका शास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान प्राप्त किया जाए तो प्रतिक्षण, प्रतिपल इस शरीर के माध्यम से धर्म की श्रेष्ठ आराधना की जा सकती है, पुण्य, सवर निर्जरा आदि की प्राप्ति हो सकती है तथा आत्मशुद्धि की ऊचाइयो पर पहुँचा जा सकता है। आवश्यकता इस जागृति की होती है कि प्रतिक्षण शरीर का सदुपयोग हो– सदाचरण एव सच्चारित्र मे इसे नियोजित रखे।

यह सत्य तो आप सबके सामने है कि शरीर नाशवान होता है। बाल्यकाल से युवावस्था आती है और शरीर मे सर्वाधिक शक्ति का सचार होता है। युवक जब वृद्धावस्था की तरफ मुडता है तो यही शक्ति शनै-शनै क्षीण होती चली जाती है। इसलिए यथासमय शरीर का धर्माराधना मे पूरा–पूरा सदुपयोग कर लिया जाए तो इस माध्यम का आत्मविकास के कार्य में पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

शरीर का मूल प्रतिक्षण घट रहा है। बारह वर्ष पहले जो शरीर था वह अब नही रहा और आज जैसा शरीर है वह आगे के बारह वर्ष

बाद नही रहेगा। वर्षा की नदी के प्रवाह की तरह शरीर के स्कधो का प्रवाह चलता है। वर्षा मे नदी का वेग बढता रहता है और वर्षा के बाद धीरे-धीरे उसमे क्षीणता आती रहती है। किन्तु नदी का प्रवाह जब तक वेगवान बना रहता है, उसमे से कितना ही पानी ले लिया जाए, पानी बाध के रूप मे सचित कर लिया जाए अथवा उसके बहाव से बिजली पैदा कर ली जाए– उस नदी के पानी का उपयोग किया जा सकता है। असावधानी का वातावरण हो तो नदी का प्रवाह बहता रहेगा, लेकिन इन्सान उसके लाभ से वचित रह जाएगा। इसके सिवाय मनुष्य के मन मे अनीति का भाव हो तो वह उस नदी के प्रवाह मे ऐसे तत्त्वो का मिश्रण कर देगा, जिनसे नदी का पानी गन्दा या जहरीला हो जाए और उसका कतई उपयोग न हो सके।

शरीर के सदुपयोग अथवा दुरुपयोग की स्थितियां

नदी के प्रवाह की तरह शारीरिक शक्ति का भी प्रवाह चलता है। जब प्रवाह का वेग होता है, तब शरीर के अधिकतम सदुपयोग की स्थिति रहती है। विवेकी आत्मा उस शक्ति का सदुपयोग इसी उद्देश्य से करना चाहती है कि मन, वचन एव काया की अशुभ वृत्तियो पर रोक लगा कर उन्हे शुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे लगावे ताकि उनकी शक्ति आत्मा के मूल स्वरूप को चमकाने की दिशा मे कार्यरत बने। प्रवाह के पानी का जितना अधिक उपयोग समय पर ले लिया जाएगा, उतना ही अधिक लाभ सचित किया जा सकेगा। प्रवाह बहता रहेगा और लाभ लिया जाता रहेगा। जितना आयुष्य है, उसके अनुसार शरीर तो टिकेगा लेकिन विवेक इसी बात का है कि उसका शुभ प्रयोजन के लिए अधिकतम लाभ उठा लिया जाए और वह शुभ प्रयोजन है, श्रेष्ठ धर्म की आराधना। जाग्रत् आत्मा के नियत्रण मे जब शरीर धर्म की आराधना मे लगता है तो वह उच्चतम पुरुषार्थ का प्रदर्शन भी कर सकता है। ऐसे पुरुषार्थ का प्रकटीकरण ही शरीर का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग कहा जाएगा।

दूसरी स्थिति होती है आत्मा के अज्ञान की और असावधानी की। तब दृष्टि ही इस ओर सजग नही होती है कि शरीर का कैसा क्या उपयोग हो रहा है? शरीर अच्छे कार्य मे प्रवृत्त है तो ठीक और बुरे कार्य मे प्रवृत्त है तो ठीक– उसकी चेतना ही सोई हुई रहती है। ऐसी अस्थिरता एव अज्ञान की स्थिति आत्मा को उत्थान की ओर नही ले जा सकती है।

किन्तु जब आत्मा अशुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे डूबी हुई हो–

विषय–कषाय की मलिनता के आच्छादन मे पतित बनी हुई हो तो वैसी स्थिति मे शरीर का भी अधिकाशत दुरुपयोग ही होता है। मलिन आत्मा का वाहक बन कर वह शरीर भी सासारिकता की मलिनता मे रचा-पचा रहता है और सारे वातावरण मे भी कष्ट एव क्लेश की मलिनता भरता रहता है।

पहले के पुण्योदय से मानव शरीर मिला है वह इसीलिए मिला है कि पहले शरीर का सदुपयोग किया गया था। अब आगे भी ऐसा शरीर मिले– शक्तिशाली और जागरूक शरीर मिले, उसके लिए इस जीवन मे शरीर का पूर्ण सदुपयोग धर्माराधन की दिशा मे किया ही जाना चाहिए।

शरीर की शक्ति से आत्मा की शक्ति की ओर

इस शरीर के स्कधो की परमाणु–पिड की शक्ति का जितना अधिक सदुपयोग किया जा सके, उतने ही अधिक आत्म–सयम के बाध बाधे जा सकेगे तथा आध्यात्मिक ऊर्जा उत्पादित की जा सकेगी। शारीरिक शक्ति का सदुपयोग आत्मिक शक्ति की अभिवृद्धि के रूप मे प्रतिफलित होगा। यह आध्यात्मिक ऊर्जा जब आत्मा मे केन्द्रीभूत होकर कार्यरत होती हे तब दृष्टि की दिव्यता भी प्रकट होने लगती है।

शरीर के सचालन मे इस दृष्टि से सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। शरीर मे शक्ति रख तो रहे ही हैं लेकिन उसको अगर बुरे कर्मो के लिए सुरक्षित रख रहे हैं तो उसे शुभ कामो के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। दिशा मे मोड देने की जरूरत है। शक्ति गतिमान तो है, पर वह अन्धकार की ओर दौड रही है। अन्धकार मे दौडने से अन्धकार के पुद्गल भी हाथ आने वाले नहीं है, बल्कि गहन अन्धकार मे चले जाने पर वहा से निकलना ही कठिन हो जाता है। शक्ति की उसी गति को प्रकाश की तरफ मोड दे– पश्चिम की ओर न जाने देकर उसे पूर्व की तरफ ले जावे। किन्तु पूर्व के उदीयमान आलोक को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक अवयव को इस तरह सक्रिय बनाया जाए कि सारे शरीर मे उस आलोक के साथ एक नई ताजगी भर उठे।

शारीरिक शक्ति की इस प्रकार की गति से आत्मा को नई शक्ति मिलेगी। दोनो शक्तिया एक-दूसरे से बल पाकर एक-दूसरे को अधिक कार्यशील बना सकेगी। ज्यो–ज्यो शरीर के माध्यम से आत्मा की अधिकाधिक शक्ति सम्पादित करते रहेगे, जीवन का ठोस निर्माण एक महत्त्वपूर्ण रीति से होता जाएगा। तब शरीर की शक्ति का किसी भी रूप मे अपव्यय नहीं होगा तथा न ही उसकी कोई प्रवृत्ति लोकहित के विरुद्ध होगी क्योकि शरीर का समस्त उपयोग आत्मदृष्टि से चलेगा।

मन, वचन एवं काया की वृत्तियो व प्रवृत्तियों का समन्वय

किसी भी कार्य का जो बाहरी स्वरूप दिखाई देता है, उसमे मन, वचन एव काया तीनो का योग होता है। मन मे शुभ वृत्ति की मुख्यता होती है तो वह वाणी के रूप मे उस शुभता को लेकर प्रकट होती हे तथा वही शुभता शरीर के कार्यों मे झलकती हैं। जैसे एक बहिन ने एक मास की तपस्या की तो पहले तपस्या करने की शुभ भावना उसके मन मे उठी होगी, तब उसने वचन के जरिये उस शुभ भावना को अपने आत्मीय जनो के सामने प्रकट की होगी अथवा सन्तो से प्रत्याख्यान किये होगे। फिर शरीर तपस्या मे नियोजित किया गया। उसका तपस्या करना तभी कहा जाएगा या दुनिया को तभी मालूम होगा, जब वह अपने व्रत को प्रारम्भ कर देती है। यह मन, वचन एव काया की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के समन्वय का एक रूपक है।

इन तीनो माध्यमो मे जितना अधिक समन्वय बनता है, मन, वाणी तथा कार्य मे एकरूपता आ जाने से उस व्यक्ति का चारित्र उन्नत होता है। सच्ची श्रद्धा तथा सच्चे ज्ञान के आधार पर ऐसा उन्नतिशील चारित्र ही आत्मा को मोक्ष के द्वार तक ले जाता है। यह समन्वय जितना कमजोर होगा इन तीनो माध्यमो का परस्पर तालमेल नही बैठ सकेगा। शरीर को किसी धर्मकार्य मे लगाया गया है तो मन कही-का-कही उडाने भरता रहेगा और वचन उस प्रवृत्ति के अनुकूल निकलता है या नही– इसका भी बराबर भान नही होगा। तीनो माध्यमो की विभिन्नता मे सच्चाई का रूप निभता नही है और उस स्थिति मे कुटिलता का रग दिखाई देता हे, जिससे व्यक्ति की अप्रतिष्ठा होती है।

मन, वचन एव काया की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे समन्वय पैदा करना स्वय एक साधना है जो नियमित अभ्यास से सिद्ध हो सकती है।

समन्वय सिद्ध होगा आत्मनियंत्रण से

मन, वचन एव काया का पुण्य माध्यम बनता है आत्मविकास का। तीनो शुभता मे विचरण करते रहे तो नये पुण्य का उपार्जन होता है और उससे आत्मविकास की अधिक अनुकूल परिस्थितिया प्राप्त होने की सभावना बन जाती है। अगर इन तीनो का सुन्दर समन्वय सिद्ध हो जाए तो पुण्योपार्जन की स्थिति सहज बन सकती है। यह समन्वय सिद्ध हो सकता है आत्मनियत्रण से। मन, इन्द्रिया और काया– ये जितने स्वच्छन्द रहेगे– वह आत्मा की दुर्बलता का लक्षण कहलाएगा। किन्तु एक जाग्रत् एव सशक्त आत्मा इन तीनो के नियत्रण की डोरी अपने हाथ मे रखती है तथा इन को अपने विकास

के दृष्टिकोण से चलाती है। इसे ही आत्मनियत्रण कहते है।

आत्मनियत्रण की स्थिति मे एक माध्यम को नियत्रित करने मे दूसरे माध्यम का सकल्पपूर्वक उपयोग किया जाता है। यह काम आत्मशक्ति के द्वारा होता है। कल्पना करे कि मन कदाचित् चचल हो रहा है तथा वचनो की शक्ति भी निरर्थक रूप मे मुखरित हो रही है तो आत्मा शरीर पर पहले नियत्रण कर सकती है और फिर भागते हुए मन और वचन को सम्हाल सकती है क्योकि शरीर की क्रियाशीलता मन और वचन के निर्देशनुसार नही होगी तब वे भी उस दिशा मे भागने से रुक कर यथास्थान आ जायेगे। आत्मजागृति के साथ इन माध्यमो को अपने नियत्रण मे लेकर इन्हे शुभ कार्यो मे सफलतापूर्वक लगाने से पुण्यवानी का बध होता है।

नियत्रण–अनियत्रण का क्रम आत्मा और इन माध्यमो के बीच मे चलता रहता है, लेकिन जब आत्मा जागरूक रहती है तो वह निरन्तर सघर्ष करती हुई भी इनकी क्रियाशीलता को अपने काबू मे कर लेती है। इन तीनो के बीच समन्वय भी इसी रूप मे पनपता रहता है।

काया की शुभ प्रवृत्ति से पुण्य कर्मो का बन्ध

अपने मन की चचलता के बाद भी यदि एक विधवा बहिन कुल-परम्परा की सुरक्षा के भाव से अपने शरीर पर नियत्रण कर लेती है तथा किसी प्रकार से दाग नहीं लगने देती है तो वह कायपुण्य का उपार्जन करती है। एक व्यक्ति अपनी साधारण आर्थिक स्थिति के साथ चलने पर भी नैतिक मार्ग को नही छोड़ता है तो इसमे उसके तीनो माध्यमो का सहयोग मिलता है और उस रूप में वह पुण्य–कर्मो का बध करता है। तीनो माध्यमो को एकाकार करके कार्य सम्पादित किया जाए तो उसका सोलहो आने फल मिलता है, लेकिन मन, वचन पर समुचित नियत्रण न रह सके और शरीर को ही नियत्रण मे रख लिया जावे, तब भी कायपुण्य का बध होता है, क्योकि काया को तो अशुभ प्रवृत्ति मे गिरने से रोक ली और उसे शुभ प्रवृति मे लगा दी। पुण्यफल इसका सोलह आने न होकर छ आने आठ आने भले हो मगर काया की शुभ प्रवृत्ति का शुभ फल अवश्य ही मिलेगा।

किन्तु शरीर स्थिरतापूर्वक शुभ प्रवृत्ति मे तभी लगा रहेगा जब मन पर भी उसी रूप मे नियत्रण करने की चेष्टा की जाएगी। किन्ही अशो मे मन का नियत्रण प्रमुख होता है। मन की विषमता हट जाये और वह एकाग्र होकर चले तब वचन और शरीर की विषमता टिक नही सकेगी। मन की शुभता बुनियादी तोर पर जरूरी होती है। एक साहूकार से दो व्यक्तियो ने साथ–साथ

कर्जा लिया ओर एक ही अवधि मे उसके भुगतान की शर्त मानी। भुगतान के पहले एक व्यक्ति ने सोचा कि अगर साहूकार जबरदस्त नही होता तो उसको कर्जे की एक पाई भी नही चुकाता और सारी रकम हजम कर जाता। इस विवशता की भावना के साथ उसने ब्याज सहित कर्जा चुका दिया। दूसरे व्यक्ति ने सोचा कि यद्यपि साहूकार से वह जबरदस्त है, मगर लिया हुआ कर्जा चुकाने का उसका फर्ज है। यह समझ कर उसने भी ब्याज सहित कर्जा चुका दिया। बाहरी काम दोनो के एक-से दिखाई दिये, लेकिन पहले व्यक्ति ने पापकर्म का बध किया तो दूसरे व्यक्ति ने पुण्यकर्म का। अत सभी माध्यमो की एकरूपता से अधिकाधिक पुण्य का सचय हो सकेगा। जितना सचय होगा, उतना ही शुभ फल प्राप्त होगा।

शरीर पर नियत्रण अपेक्षाकृत आसान होता है, अत इसे शुभ प्रवृत्ति मे लगाये रखने का पूरा अभ्यास करने से मन और वचन को भी धीरे–धीरे नियत्रण मे लिया जा सकता है। इस कारण शास्त्रकारो ने 'कायपुण्य' की स्थिति का विवेचन किया हे।

मन, वचन, काया की समरसता से आत्मिक समता की उपलब्धि

शास्त्रो मे सबसे पहले मन–पुण्य का कथन है। मन की प्रधानता वचन मे हे और दोनो की प्रधानता काया के सचालन मे प्रकट होती है। इस कारण तीनो के बीच रही हुई अथवा आने वाली विषमता पर रोक लगानी चाहिए। तीनो माध्यमो मे समरसता बन जाए तो आत्मविकास का मार्ग निर्बाध हो जाता हे। यही नही, इससे आत्मिक समता की उपलब्धि भी होती हे।

आराधना के माध्यम के रूप मे शरीर के महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया हे ओर कहा हे कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' अर्थात धर्म के साधन के रूप मे शरीर सबसे पहले हे। शरीर पर नियत्रण नहीं तो धर्म की आराधना ही कोन करेगा? एक व्यक्ति धर्मस्थान मे बेठा हैं, उपदेश चल रहा हे किन्तु उसका मन कही बाहर भटक रहा हे फिर भी शरीर के शुभ प्रवृत्ति म लगे रहने से उसे पुण्य का बध हो सकता हे।

अधिकतम पुण्य का सचय करने ओर उससे आत्म–विकास का सम्पादन करने की दृष्टि स मन, वचन ओर काया– इन तीनो माध्यमो की क्रियाआ मे समरसता लाना आवश्यक हे। इसी से पूर्ण समता की स्थिति मे पहुचा जा सकेगा।

*****



दान ममत्व-त्याग का सोपान

चेतन जाण कल्याण करण को, आन मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछांण प्रभु गुण, मन चचल थिर कर रे।।
श्रेयास जिनन्द सुमर रे
सास उसास विराम भजन को, दृढ विश्वास पकर रे।
अजपाभ्यास प्रकाश हियै बिच, सो सुमरन जिनवर रे।।
श्रेयास जिनन्द सुमर रे

कवि ने चेतन को सम्बोधित किया है कि हे चेतन, अपना कल्याण करने का सुन्दरतम अवसर आ चुका है, तू श्रेयास भगवान् का स्मरण कर। इससे तेरी आत्मा श्रेय मार्ग को प्राप्त करेगी।

जीवन मे आत्मा के लिये दो प्रकार के मार्ग विद्यमान हैं– एक श्रेय मार्ग तथा दूसरा प्रेय मार्ग। प्रेय मार्ग सासारिकता का मार्ग है, जिसका अन्तिम परिणाम दु ख और दुविधाओ के रूप मे सामने आता है और जिससे नरक एव तिर्यंच आदि गतियो मे आत्मा को भटकना पडता है। चौरासी लाख योनियो के अन्दर विभिन्न प्रकार के जो दु ख भुगतने पडते हैं वह प्रेय मार्ग का ही दुष्परिणाम होता है।

श्रेय–मार्ग ही आत्मोत्थान का मार्ग

अनादिकाल से आत्मा जन्म–मरण के चक्र मे इसी कारण परिभ्रमण कर रही है कि उसने निष्ठापूर्वक श्रेय मार्ग का अनुसरण नही किया। यदि ऐसा अनुसरण आत्मा ने किया होता तो वह अवश्य ही मोक्ष की दिशा मे अग्रसर बन जाती। श्रेय मार्ग ही आत्मोत्थान का या आत्मकल्याण का सही मार्ग है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार आत्म–कल्याण के जो मार्ग दिखाये गये हैं उन पर आत्मा इस अलभ्य मानव जीवन मे चल कर अब भी अपना

कल्याण कर सकती हे। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र की एकरूपता को मोक्ष मार्ग बताया ही है और इसी मोक्ष मार्ग की शाखाए दान, शील, तप एव भाव के रूप मे मानी गई हैं। इन चारो मे दान को प्रथम क्रम पर रखा गया हे। चाहे मोक्षमार्ग कहे या श्रेयमार्ग– एक ही बात है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसी मार्ग पर आत्मा को अपनी साधना एव आराधना के साथ चलना होगा क्योकि आत्मा का परम कल्याण मोक्ष प्राप्ति के रूप मे ही माना गया है। आत्मोत्थान का चरम लक्ष्य मोक्ष ही है।

दान की शास्त्रीय परिभाषा

दान की दृष्टि पर सामान्यत सही चिन्तन नही किया जाता है। यह समझ लिया जाता है कि जो-कुछ दिया जाता है, वह दान है। किन्तु वास्तव मे दिये जाने मात्र से सच्चा दान नही बनता है। दान के पीछे भावना की दृष्टि सही रूप मे होनी चाहिए। अनेक तरह के कार्य किये जाते हैं तथा उनमे कुछ-न-कुछ दिया ही जाता है, लेकिन दान किस भावना के साथ दिया जाता हे, उसका ध्यान रखे बिना दान का प्रसग नही माना जा सकता है। जवाई आये, उनको कुछ दिया, पुत्री आई उसको भी दिया, सगे–सम्बन्धियो को दिया– तो यह सब-कुछ देना दान की परिभाषा मे नही आता है। दान आत्मकल्याण का प्रसग उपस्थित करने वाला होना चाहिए।

शास्त्रकारो ने दान की परिभाषा की है तथा दान के दस भेद बताये हैं। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे दान की परिभाषा दी है कि–

"अनुग्रहार्थ स्वस्योत्सर्ग दानम्।"

अर्थात अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु के स्वत्व अथवा ममत्व का त्याग करना दान कहलाता हे। उपलक्षण से परार्थ अनुग्रहार्थ भी होता है। पर के अनुग्रह के लिए पदार्थ का परित्याग किया जाय– यह अर्थ उपलक्षण से हे। मुख्य अर्थ स्वय पर ही अनुग्रह करना हे जो गूढ हे। सच्चा दान देकर मनुष्य दूसरे पर अनुग्रह नहीं करता, वल्कि स्वय पर ही अनुग्रह करता हे। दूसरे पर एहसान करने के लिये कोई दान देता हे या दूसरो की भलाई करने के गर्व के साथ दान देता हे तो उस दान के मूल मे सही भावना का अभाव माना जाएगा। अह या अभिमान जिस भावना के साथ मिलता हे, वह भावना विकारी हो जाती हे। यदि कोई दूसरो को अपने एहसान से लादने की भावना से दान देता है तो मान लें कि उसके मन मे शुद्धता की भावना नहीं हे। कोई इस विकारी भावना के साथ दान दे कि आज मैं उसको द रहा हूँ और समय आने पर उस व्यक्ति का दवाऊगा, यदि वह नहीं मानेगा तो मैं उससे कहूँगा कि मैंने तुम्हारे ऊपर

उपकार किया और तुम आज मेरा काम नही करते। इस प्रकार की भावना रखकर जब कोई देता है तो वह दान के स्वरूप को नही समझता है।

दान देना दूसरो पर नहीं, अपने पर ही अनुग्रह है

दान देने की भावना हृदय की शुद्धता से उत्पन्न होनी चाहिये। इसमे सौदेबाजी की विकारी भावना नही हो। इधर दान दू और उसके बदले मे वह लू, यदि किसी की दान देते समय ऐसी भावना रहती है तो वह एक दृष्टि से सौदेबाजी की भावना है। इससे आत्मशुद्धि का रूप नहीं बनता है। दान देते समय आत्मकल्याण की भावना सर्वोपरि रहनी चाहिये। मन मे यह विचार रखना चाहिये कि दान देकर मैं दान लेने वाले पर कोई एहसान नही कर रहा हू बल्कि कोई एहसान है या अनुग्रह है तो मेरे अपने ऊपर ही है। इससे भी ऊपर मन मे यह भाव आना चाहिये कि दान ग्रहण करके वह व्यक्ति मेरे पर उपकार कर रहा है। वह एक प्रकार से दान नही ले रहा है अपितु मेरी आत्मा को शुद्ध बना रहा है। इस व्यक्ति का मेरे पर एहसान है क्योकि इस प्रकार दान लेकर वह मेरे कर्म–मैल को धोने मे सहायक बन रहा है। दान देने के समय ऐसी भावना होनी चाहिये जो मन की वृत्तियो को विनम्र बनाये रखती है।

वस्तुत दान देना दूसरो पर नही, अपने पर ही अनुग्रह है। सोचिये कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास जाकर उसके शरीर का मैल उतारता है– उसके शरीर को साफ करता है तो वह साफ करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का उपकारी हुआ या नही? एक डॉक्टर स्वत एक रोगी की चिकित्सा करता है, मुफ्त दवा देता है और उसके रोग का निवारण करता है तो वह डॉक्टर रोगी पर उपकार करता है या नही? इस दृष्टि पर थोडा चिन्तन करिये– आप स्वय दान के आन्तरिक मर्म तक पहुच सकेगे।

दान की शुद्ध भावना–ममत्व त्याग की परिचायिका

पर–पदार्थो को ग्रहण करने की लालसा ने इस आत्मा के स्वरूप पर आवरण डाल रखे हैं। इससे बाह्य पदार्थो पर आत्मा का ममत्व भाव बन गया है– उन पर उसकी मूर्छा भावना हो गई है। इस मूर्छा से आत्मा पर कर्मो का रोग लग गया है, क्योकि यह ममत्व सबसे बडा रोग है। अब आपके इस ममत्व को हटाने का यदि कोई प्रयत्न करता है और उसके प्रयत्न से आपका यह रोग घटता है या हटता है तो क्या आप उसका उपकार नही मानेंगे? आत्मा रूपी धवल वस्त्र पर ममत्व का मैल चढा हुआ है, अब उसे कोई धोता है तो वह आपका उपकारी ही तो होगा। मोह–ममत्व की स्थिति मनुष्य को

चिन्ताग्रस्त बनाये रखती हे तो उस चिन्ता को कम करने वाले के प्रति आभार ही व्यक्त किया जाएगा। इसे सही मानिये कि जा व्यक्ति दान लेने के लिये किसी के सामने उपस्थित होता हे तथा दान गहण करता हे तो वह दाता की आत्मा को धोने– शुद्ध बनाने के लिये भी उपस्थित होता हे।

दान की शुद्ध भावना को ममत्व–त्याग की परिचायिका के रूप मे देखिये। ममत्व छूटता है तभी दान दिया जा सकता हे। ममत्व रहने की दशा मे दान देना बनता नही, चाहे फूटी कोडी का ही दान क्यो न हो? कोई याचना करने आता है, निमित्त मिलता हे, उस वक्त कोई कुछ भी देता हे तो उस दान से उसका ममत्व टूटता है ओर आत्मा कर्म–भार से हलकी बनती है। लेने वाले का उपकार हुआ या नही, यह बाद मे सोचने की वात हे लेकिन देने वाले का उपकार हो ही गया। दान लेने वाले ने दाता की आत्मा का मेल उतार ही दिया और जब वह दान के बदले मे किसी तरह की कामना नहीं रखता है, तभी वह व्यक्ति सच्चा दानी कहला सकता हे।

ममत्व का शुद्ध हृदय से त्याग करने वाले दानी ही "अनुग्रहार्थ स्वस्योत्सर्ग दानम्" को सार्थक बनाता है। इस भावना से जो व्यक्ति दान देता है, उस दान को ही त्याग कहते है– विसर्जन मानते हे। सच पूछा जाए तो दान मे ममत्व त्याग का भाव मुख्य रूप से रहना चाहिये।

दान के विभिन्न भेद तथा सर्वश्रेष्ठ दान– अभयदान

विसर्जन या त्याग दान का प्रधान लक्षण है। विसर्जन का यह अभिप्राय नही होता है कि जो-कुछ देना है, उसे पानी मे डाल दिया जाए। यदि कोई ऐसा करता है तो न वह दान है, न विसर्जन या त्याग। वह केवल दिखावा हो सकता है। जहा अपने सिद्धान्त की दृष्टि से, अपनी आत्मशुद्धि की दृष्टि से निमित्त और पात्र के विवेक के साथ दान दिया जाता है तो वह शुद्ध दान बनता है। निमित्त और पात्र की दृष्टि से ज्ञानीजनो ने इस दान के विभिन्न भेद बताये हैं।

मुख्यत आत्मकल्याणार्थ अभयदान और सुपात्रदान का कथन दान के दो भेदो के रूप मे आता है। अभयदान का अर्थ है कि प्राणियो को किसी भी प्रकार के भय से मुक्त करना, उन्हे पूर्णत निर्भय बनाना। अभयदान एक प्रकार से जीवन का दान कहलाता है। जीवन का दान देने वाला व्यक्ति वस्तुत सिर्फ उस प्राणी को ही अभय नही बनाने जा रहा है बल्कि वह स्वय को भी अभय बना रहा है। एक कुत्ता एक छोटे प्राणी को मुह मे दबाने जा रहा है तो वह छोटा प्राणी भीषण भय से सन्त्रस्त होता है। उसे जो व्यक्ति छुडा

देता है, वह उसे अभयदान देता है। उसे अभयदान देने वाले व्यक्ति के मन मे पहले ही अभय का भाव आ जाता है– उसकी आत्मा शुद्ध हो जाती है ओर वह अनुगृहीत हो जाता है। अब जिस छोटे प्राणी पर उसने अनुग्रह किया है उस पर अनुग्रह होता भी है और नही भी होता है। कारण वह छोटा प्राणी कुत्ते से बचकर बाद मे किसी और की चपेट मे भी आ सकता है।

इस दृष्टि से जो व्यक्ति अपनी निर्भयता एव अपनी शुद्धता को दीर्घ काल तक सुरक्षित रखना चाहता है, उसे अन्य प्राणियो को सुरक्षित एव सुखी रखने की अपनी वृत्ति तथा प्रवृत्ति को प्रबल रूप देना चाहिये। ऐसा अभयदान अभयदाता के आत्मकल्याण के मार्ग को निष्कटक बना देता है।

तीर्थकारो के आदर्श जीवन मे अभयदान की विशेषता परिलक्षित होती है। आप जानते हैं कि वे प्रवचन क्यो देते है? जब केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद उनका आत्मकल्याण हो चुका तो उन्हे फिर प्रवचन देने की क्या आवश्यकता थी? यह उनका ससार के सत्रस्त प्राणियो को अभयदान था। उन्होने जगत् को आत्मकल्याण का पवित्र मार्ग बताने के लिये उपदेश दिये और शास्त्रो के मूल पाठ का सकेत दिया। यह सकेत था कि सब जीवो की रक्षा रूप दया हेतु उन्होने उपदेश दिये। अभयदान की श्रेष्ठता इस प्रकार स्वय तीर्थकरो के आदर्श से प्रमाणित होती है।

अभयदान की श्रेष्ठता का एक मार्मिक दृष्टान्त

अभयदान की श्रेष्ठता की घोषणा शास्त्रकारो ने इस प्रकार की है–

"दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं।"

अर्थात्– सब दानो मे श्रेष्ठ अभयदान है। इसका मर्म समझने के लिये एक दृष्टान्त दिया गया है।

एक बार एक चोर फासी के तख्ते की ओर ले जाया जा रहा था। हथकडियो और बेडियो मे कसे उस चोर की सब हसी उडा रहे थे। राजा ओर रानी ने भी चोर को अपने महल के झरोखे से देखा। उसे देखकर रानी का दिल पिघल गया। रानी से उसका दु ख देखा नही गया। अत चोर को उस समय शान्ति पहुचाने के लिये रानी ने राजा से माग की– राजन् आपसे मैं एक वरदान मागती हूँ। वह अभी इस रूप मे दे दे कि इस चोर को अगले चौबीस घटो के लिये प्राणदड की सजा माफ रखी जाए। राजा वचनबद्ध थे उन्हें वह माग मजूर करनी ही पडी।

अब बड़ी रानी की तारीफ होने लगी कि उन्होने अपने हृदय की कोमलता दिखाई है। राजा के कुल चार रानिया थीं। दूसरी रानी ने सोचा कि

वह बडी रानी से पीछे क्यो रहे? उसने भी राजा से आगे चौबीस घटो के लिये चोर की प्राण रक्षा का वरदान पा लिया। उसने ऊपर से चोर को खिला-पिलाकर व एक लाख का द्रव्य देकर भी सुख पहुचाया। तीसरी रानी ने भी उससे आगे और चौबीस घटो के लिये चोर का प्राणदड रुकवा दिया तथा अधिक द्रव्य उसको दिया। चौथी रानी दान के मर्म को समझती थी। उसने राजा से अपने वरदान के रूप मे चोर को अभयदान देने की माग की। राजा ने चोर को अभयदान दे दिया किन्तु उस रानी ने द्रव्य आदि चोर को नही दिया। तब तीनो रानिया चौथी रानी की कजूसी की निन्दा करने लगी। इस पर चारो के बीच विवाद छिड गया। वे चारो राजा के पास निर्णय हेतु पहुँची कि किस रानी का उपकार सर्वश्रेष्ठ रहा?

राजा चतुर थे। उन्होने इस निर्णय के लिये उस चोर को ही न्यायकर्ता बना दिया। चोर ने तीनो रानियो के कृपापूर्ण व्यवहार के प्रति बहुत-बहुत आभार माना और फिर कहा- आप तीनो ने अवश्य ही मुझे अस्थायी सुख पहुचाया किन्तु चोथी रानीजी ने अभयदान दिलाकर जो मेरे सम्पूर्ण जीवन की रक्षा की है, उस आभार का कोई पार नही है। अभयदान के द्वारा मुझे नया जीवन और परम शान्ति मिली है। अभयदान चूकि जीवनदान का रूप होता है, अत इसकी सर्वश्रेष्ठता असदिग्ध रूप से मानी गई है।

अभयदान की मार्मिकता 'जीओ और जीने दो' में है

ससार मे प्रत्येक प्राणी जीवन की आकाक्षा रखता है और मृत्यु से भय खाता हे। जो व्यक्ति जितना दुर्बल होता है, उसको मृत्यु का भय उतना ही अधिक रहता हे। जो व्यक्ति समर्थ होता है, वह अपनी सुरक्षा तो कर लेता है, किन्तु वह निबाहे तो उस पर दूसरे निर्बल प्राणियो की रक्षा का भी नैतिक और सामाजिक दायित्व होता है। किसी भी व्यक्ति या प्राणी को आप और किसी पदार्थ या सुख-सुविधा का योगदान करे, वह अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हो सकता हे किन्तु आप उसके प्राणो की रक्षा करे- आक्रमण से उसे बचावे- यह उसके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता हे। कारण, यदि जीवन बचता है तो अन्य पदार्थो या सुख-सुविधाओ का भी उपयोग हे एव जीवन की सुरक्षा प्राथमिक हो जाती हे।

अत महावीर प्रभु का यह सामान्य सिद्धान्त कि 'जीओ ओर जीने दो' वडे गूढार्थ वाला हे। आप स्वय इस प्रकार जीओ कि आपका जीवन किसी दूसरे के जीवन को किसी प्रकार से वाधित अथवा पीडित नही बनावे। यही

नहीं, आप इस प्रकार जीओ कि आपके जीवन के आत्मिक गुण दूसरो के जीवन को प्रभावित करे तथा उन्हे यह आदर्श प्रदान करे कि वे भी आत्मिक गुणो की उपलब्धि की दिशा मे प्रयासरत बने।

जीने दो का अभिप्राय यह है कि आप दूसरो के प्राणो के रक्षक बने एव उन्हे भी जीवन की सच्ची कला सिखावे। जिस प्रकार आप अपने स्वस्थ जीवन की मर्यादाए ढालते हैं उन मर्यादाओ की छाया मे उन्हे भी स्वस्थ जीवन की प्रेरणा दे।

'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त मे अभयदान की मार्मिकता भरी हुई है क्योकि जो योगदान किसी की जीवन–रक्षा के काम मे दिया जाता है या मिलता है वह अभयदान का ही एक प्रकार कहा जाएगा। दूसरे सभी प्रकार के दान जहा जीवन की छोटी–मोटी सुविधाओ से सम्बन्धित होते हैं वहा अभयदान समूचे जीवन से सम्बन्धित होने के कारण स्वय ही सर्वाधिक प्रभावशाली बन जाता है।

सच्चे दान से आध्यात्मिक गुणों का विकास

शास्त्रकारो ने बताया है कि सच्चे दान से अर्थात् दान की सच्ची भावना से आध्यात्मिक गुणो का विकास होता है। जहा दान का मूलभूत कारण ममत्व–त्याग होता है तो वह उसका प्राथमिक रूप होता है। एक ममत्व के छूटने से ही कई दुर्गुणो का नाश हो जाता है तथा कर्म–बधन का क्रम भी हलका बन जाता है। किन्तु ममत्व त्याग के बाद आध्यात्मिक गुणो का जो निरतर विकास होता है, वह दान का दूरगामी परिणाम होता है। ममत्व के हटने से समत्व की सृष्टि होती है और समत्व व्यक्तिगत एव सामाजिक– दोनो प्रकार के जीवन को सद्गुणो से सम्पन्न बनाता है।

भावपूर्ण एव विनम्र दान मनुष्य की आन्तरिकता को उज्ज्वल बनाता है और आत्मिक स्वरूप को निखार कर उसे उन्नति के मार्ग पर आगे बढाता है।

दान को जीवन्त परिपाटी बनावे

हमारी सस्कृति एव सभ्यता मे दान की परिपाटी सदा से
किन्तु समय–प्रवाह मे वह कोरी परिपाटी रह गई है और इसी
परिपाटी दिखावा, कीर्ति, लालसा या अन्य प्रकार से विकृत भी
अत आज आवश्यकता है कि दान को आत्मिक गुणो से
फिर से जीवन्त परिपाटी का रूप दिया जाए।

दान में भी अभयदान को सर्वाधिक प्रोत्साहन दिया



विमल विज्ञान की कला

अरहनाथ अविनाशी, शिव सुख लीधो।
विमल विज्ञान विलासी, साहब सीधो।।
चेतन भज तू अरहनाथ ने
ते प्रभु त्रिभुवननाथ
तात सुदर्शन देवी माता
तेहनो पुत्र कहाय
क्रोड-जतन-करता नही पामे, एहवी मोटी माम।
ते जिन भक्ति करो ने लहिये, मुक्ति अमोलक ठाम।।

अरहनाथ प्रभु अविनाशी हैं। अनकी दिव्य दृष्टि तीन काल मे भी नष्ट नहीं होती है। कवि ने इस प्रार्थना मे उन्हे विमल विज्ञान विलासी बताया है, जिसका अर्थ होता है कि वे सदा निर्मल एव विशिष्ट ज्ञान मे रमण करने वाले हैं। यहा विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहा गया है। किन्तु यह विज्ञान विमल है— किसी भी तरह के मैल से युक्त नही है। विमल होने से उसमे किसी भी तरह की कुत्सित वृत्ति का कोई अश नही होता है और विलास का अर्थ भी भोग से नहीं, बल्कि शुद्ध आत्मानन्द से लिया जाना चाहिए अर्थात प्रभु निर्मल विज्ञान की कला मे पारगत ही नहीं हैं, अपितु उस विज्ञान के परम आनन्द मे सदा रमण करते रहते हैं।

विज्ञान का स्वरूप : लौकिक एवं पारलौकिक

विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान होता है किन्तु इसके स्वरूप का अध्ययन करने की दृष्टि से इसको दो स्थितियो मे देखना होगा। ससार के जड पदार्थो की गतिविधियो एव परिवर्तनो सम्बन्धी जो विशिष्ट ज्ञान है उसे लौकिक या भौतिक विज्ञान कहेगे। किन्तु जो विशिष्ट ज्ञान—चेतन तत्त्व के

स्वरूप, विकास एव मोक्ष से सम्बन्धित हे, वह विज्ञान पारलौकिक या आध्यात्मिक कहलायेगा।

भौतिक विज्ञान एक प्रकार से स्थूल विज्ञान है जो दृश्य एव जड पदार्थों की खोजबीन करता है। प्रयोगशाला मे विविध रसायनो की सहायता से विभिन्न पदार्थों के मूल तत्त्वो तथा उनकी क्रिया-प्रक्रियाओ का पता लगाया जाता है तथा उस जानकारी के आधार पर नये-नये अनुसधान किये जाते हैं। पदार्थ मौजूद हैं लेकिन उनके खड-विखडन से या रूप-परिवर्तन से उनमे नई-नई क्रियाशीलता पैदा की जाती हे, जिससे उनकी नई-नई उपयोगिता का विकास होता है। इसी विज्ञान के माध्यम से भौतिक पदार्थों की क्रियाए जाची जाती हैं तो प्रक्रियाए ढाली जाती हैं।

वहा आध्यात्मिक अवज्ञान सूक्ष्म विज्ञान है जो चेतन तत्त्व के स्वरूप का अध्ययन करता है तथा जीवन-विकास की कलाओ पर प्रकाश डालता है। इसकी कोई बाहरी प्रयोगशाला नही होती। आध्यात्मिक विज्ञान की प्रयोगशाला स्वय आत्मा होती है और आत्मा का ही विकास अथवा अविकास इसका अध्ययन क्षेत्र होता है। आत्मा का मूल स्वरूप क्या है- वह स्वरूप बिगड क्यो जाता है तथा उस स्वरूप को पुन निखार कर तेजस्वी कैसे बनाया जा सकता है- यह सब विवेचन इस विज्ञान मे मिलेगा।

विमलता या निर्मलता की जो स्थिति है, वह आध्यात्मिक विज्ञान मे आवश्यक है और यो तो वह भौतिक विज्ञान मे भी आवश्यक है, लेकिन उसके बिना भी भौतिक विज्ञान के अनुसधान सफल हो सकते है- आध्यात्मिक विज्ञान के नही। वैसे यह विमलता जब भौतिक विज्ञान मे नही रहती है तो वे अनुसधान मानवता- विरोधी तथा सहारक रूप ले लेते हैं। अत आवश्यक यह है कि आध्यात्मिक विज्ञान को इतना गतिशील तथा प्रभावशील बनाया जाए कि भौतिक विज्ञान सदा आध्यात्मिक विज्ञान से प्रभावित रहे। ऐसी दशा मे विज्ञान के इन दोनो क्षेत्रो मे निर्मलता की स्थिति का निर्वाह हो सकेगा।

निर्मलता का आधार है अन्तःकरण की शुद्धि

भौतिक या आध्यात्मिक विज्ञान मूल रूप मे परस्पर विरोधी नही है। विज्ञान के इन दोनो क्षेत्रो का सचालन सामजस्यपूर्ण हो एव दोनो का परस्पर नियत्रणात्मक सम्बन्ध हो तो दोनो को विश्व के सर्वांगीण कल्याण की दृष्टि से सफलतापूर्वक मानव जाति एव प्राणी समूह की सेवा मे नियोजित कर सकते है। ऐसी अवस्था मे विमलता एक आवश्यक स्थिति बन जाती है।

विमलता या निर्मलता, चाहे आत्मकल्याण का प्रश्न हो अथवा

लोककल्याण का एक आवश्यक स्थिति हे। यह निर्मलता मुख्य रूप से व्यक्ति के अन्त करण से सम्बन्धित है। भीतर की निर्मलता के बिना कोई भी कार्य निष्ठापूर्वक सम्पादित नहीं किया जा सकता। जहा निर्मलता होती है, वहा स्वार्थ या ममत्व नहीं होता और न ही आत्म–विरोधी गुण या दुर्गुण वहा पनप सकते हैं। अन्त करण जब मैला होता है यानी कि दुर्भावनाओ से भरा हुआ होता है तब दुर्बुद्धि दुष्ट कार्यो मे प्रधान रूप से प्रवृत्त होती है। यदि मन, वचन एव काया की प्रवृत्तिया दुर्भावना एव दुर्बुद्धि से प्रेरित रहती हैं तो आध्यात्मिक विज्ञान के क्षेत्र मे उनका प्रवेश ही सभव नही है। किन्तु ऐसे कलुषित अन्त करण के साथ यदि भौतिक विज्ञान के प्रयोग भी किये जाते हैं तो उनकी दिशा सत्ता–लोलुपता एव विश्वसहार की होगी।

विमलता के बिना भौतिक विज्ञान भी अधिक चल नही सकेगा, क्योकि मैला और बिगडा मस्तिष्क अणुबम बना सकता है, उस अणु की शक्ति को मानव–हित मे नियोजित नही कर सकता है। तब अणुबमो की मार दुनिया को विनाश से कब तक बचाये रख सकेगी? गहराई से देखे तो अन्त करण की शुद्धि से निकली हुई विमलता या निर्मलता दोनो विज्ञान–क्षेत्रो के लिए एक अनिवार्य स्थिति है, जिसके बिना दोनो क्षेत्र विकृति की ओर बढते हैं क्योकि दोनो क्षेत्रो का सचालन तो मनुष्य ही करता है।

भौतिक एवं आध्यात्मिक विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध

भौतिक एव आध्यात्मिक विज्ञान दोनो मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित हैं। स्वय मनुष्य–शरीर जड एव चेतन के मिलन का प्रमाण है तथा यह शरीर जब आत्मकल्याण का साधन बन सकता है तो कोई कारण नही कि भौतिक विज्ञान को आध्यात्मिक विज्ञान का सहयोगी नही बनाया जा सके। दोनो प्रकार के विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध भी इसी आधार पर समझा जाना चाहिए।

वास्तविकता यह है कि दोनो विज्ञान जब परस्पर व्यक्ति की आत्मिक निर्मलता के साथ जुडे हुए रहेगे तो उसके सुपरिणाम ही सर्वत्र दिखाई देगे। सासारिक क्षेत्र मे तब भौतिक विज्ञान चन्द सत्तालोलुप व्यक्तियो के हाथो मे न रह कर सार्वजनिक नियत्रण मे रहेगा, जिससे सार्वजनिक हितो से सम्बन्धित अनुसधान ही किये जायेगे। ये अनुसधान भी ऐसे होगे जिनसे आध्यात्मिक विज्ञान के सफल क्रियान्वयन मे सहयोग मिलेगा। ऐसा तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक विज्ञान का वर्चस्व भौतिक विज्ञान के क्षेत्र पर हो।

भौतिक विज्ञानवेत्ता यदि अन्त करण की शुद्धि के साथ आत्मिक

लक्ष्य को लेकर भौतिक प्रयोग करे तो वर्तमान स्थिति मे सुखद परिवर्तन आ सकता है। इसके लिए भौतिक विज्ञानवेत्ता का भी प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धि का बनना चाहिए क्योकि आत्म-शुद्धि की अवस्था मे उसके सारे प्रयोग मानवता के हित के अनुसार ही होगे तथा अनुसधानो का एकमात्र उद्देश्य विश्व-हित बन जाएगा। भौतिक विज्ञान जब ऐसे रूप मे ढाल दिया जाए तो वह भी विमल विज्ञान का ही प्रतीक बन जाएगा। तब कम-से-कम आशिक विमलता उसका मुख्य गुण बन सकेगी।

भौतिक एव आध्यात्मिक विज्ञान को परस्पर सम्बन्धित करने वाली कोई शक्ति है तो यही विमलता है और इस दृष्टि से निष्कर्ष यही निकालना पडेगा कि व्यक्ति-सुधार का कार्य मुख्य है। यदि व्यक्ति अपने अन्त करण से निर्मल बने तो वह भौतिक विज्ञान का भी सदुपयोग कर सकता है, अन्यथा मैले अन्त करण से आध्यात्मिक विज्ञान को भी वह विकृत बना देता है।

भौतिक-विज्ञान आध्यात्मिक विज्ञान की छाया में चले

शुद्ध अन्त करण के साथ जब भौतिक विज्ञान के प्रयोग साधे जायेगे तो वैसा भौतिक विज्ञान विमल विज्ञान के आशिक रूप मे आ जाएगा। जिन आत्माओ का खयाल सिर्फ भौतिक विज्ञान का ही रहता है, वे भावनाशून्य वैज्ञानिक होगे और उनके हाथो मानवता का कल्याण हो– इसकी सभावना क्षीण रहती है। ऐसा वैज्ञानिक जिन आविष्कारो को दुनिया के सामने रखता है, उनके प्रति उसका यह विचार नही होता कि इनका दुरुपयोग होगा अथवा सुदपयोग और ये मानवता के हित मे कल्याणप्रद होगे अथवा विनाशक? सिर्फ अविष्कार करने के लिए आविष्कार करना– यह भावनाशून्यता की स्थिति है तथा यह स्थिति लोकहित की दृष्टि से खतरनाक होती है।

आज ऐसे ही बहुतेरे आविष्कार दुनिया के बीच मे आ रहे है, जिनसे बाहरी सुख-सुविधाए भले ही बढी हो, लेकिन उनसे भीतरी सुख धूमिल पडा है। उनसे आध्यात्मिक स्थिति धूमिल ही नही हुई है, बल्कि यह स्थिति अधिक अधकारपूर्ण भी बनी है। मानव-मन अधिक-से-अधिक बाह्य पदार्थों मे उलझता है तथा उन्हे ही प्राप्त करने के लिए अपने अमूल्य जीवन को खपा डालता है। पहले के युग मे सादा जीवन था– अधिक साधन-सुविधाए उपलब्ध नही थी तो पाप-प्रवृत्ति भी कम होती थी। आज साधन-सुविधाए घोर विलासिता के छोर तक पहुच रही है और ये सबको समान रूप से प्राप्त नही है। इस कारण इन्हे प्राप्त करने की भारी दौड-भाग चलती है जिससे उतनी ही अधिक अनीति फैलती है। मनुष्य के मन और मस्तिष्क मे जैसे आज

के भौतिक विज्ञान की विलासिता गहरी पैठ गई हे और उससे उसका आध्यात्मिक विज्ञान क्षत–विक्षत हो रहा है। उसके मन मे न एकाग्रता हे, न शाति। ऐसी विश्रृखल मनोदशा मे आध्यात्मिक विज्ञान के प्रकाश से वह दूर होता चला जा रहा है।

इस विपरीत स्थिति को आत्मोन्नति के अनुकूल बनाने का एकमात्र उपाय यह है कि भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक विज्ञान की छाया मे चले। यह कोई आसान काम नहीं है। सासारिक शक्ति मे मदहोश लोगो के दिलो को बदलना तथा भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी आत्मिक अनुभव को प्रमुख बनाना बहुत ही कठिन कार्य है, लेकिन जब तक ऐसा नही किया जा सकेगा, भौतिक विज्ञान का सहारक एव विलासी रूप आध्यात्मिक विज्ञान के विकास मे भी बाधाए खडी करता रहेगा।

विमल विज्ञान की कला का व्यापक विकास

जीवन के सत्य को भूल कर जब मनुष्य विषय एव कषाय की वृत्तियो मे उलझ जाता है, तभी उस का अन्त करण भी शुद्ध नहीं हो पाता है तथा मन भी अशात एव अस्थिर बना रहता है। आज आत्मतत्त्व के प्रति जितनी अनास्था जड तत्त्व के प्रति जितनी मोहबुद्धि फैली हुई है, उसे देखते हुए यह धारणा दृढ़ बननी चाहिए कि चिन्तक एव कर्मठ व्यक्ति आगे आकर विमल विज्ञान की कला के व्यापक विकास मे अपना योगदान प्रस्तुत करे।

विमल विज्ञान की कला तभी विकसित बन सकती है, जब मनुष्य इस अमूल्य जीवन को केवल मशीन नही समझे तथा इसे जीवन्त रूप देकर आत्मकल्याण का सबल साधन बनाने का सकल्प ले। समझे कि एक व्यापारी ने कपास लोढने की मशीन लगाई। आय का अच्छा साधन बनने से उसको लगाकर वह खुश होता है, लेकिन उसकी खुशी कब तक रहेगी? तभी तक, जब तक कि मशीन बिगडती नही है और ठीक से काम करती रहती है। मशीन का कोई पूर्जा टूट गया ओर वह वापिस नया नहीं मिला तो काम ही बन्द हो सकता है। वर्तमान जीवन मे भी ऐसी व्यापक वृत्ति फैल गई है कि मनुष्य अपने जीवन को भी एक मशीन मात्र मान कर उससे कमाई करता हे अर्थ की ओर उसे इसी जघन्य कार्य मे खपा डालता है। मशीन जब टूट जाती है तो फिर हाथ खाली रहता है। इसी जीवन से अगर धर्म की कमाई की होती, तो वह जीवन के अन्त के समय अपने-आप को सम्पन्न मान सकता था।

वास्तव मे विमल विज्ञान की कला इस मानव–जीवन मे परिपूर्णता के साथ विकसित होनी चाहिए जिससे मनुष्य को अपने जीवन के अमूल्य

महत्त्व का भान हो सके और उस दृष्टि से वह अपने जीवन को 'विमल विज्ञान विलासी' बना कर अविनाशी प्रभु की पद–वन्दना कर सके।

विमल विज्ञानी ही अपने जीवन का स्वयं नियंत्रक हो सकता है

कपास की मशीन की तरह यह शरीर की मशीन भी एक दिन टूट सकती है, लेकिन उससे पहले पुर्जे भी क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। आज की डाक्टरी विद्या हाथ-पैर बिठाने से लेकर दिल ओर गुर्दों तक का प्रतिरोपण भले ही कर ले, किन्तु मन की मलिनता धोने या विचारो के रोग को मिटाने की होशियारी उसके पास नही हे। शरीर की इस मशीन को रात–दिन ससार के विषय-विकारो मे घसीटते रहोगे और जब वह विकृत मन के साथ टूटने लगेगी तो उसको सुधारने वाला कोई बाहर का इन्जीनियर नही मिलेगा।

जाग्रत् बन कर अपने जीवन का नियत्रण जब तक मनुष्य अपने ही स्वय के हाथो मे नही ले लेगा, तब तक वह अपने जीवन का सदुपयोग भी नही कर सकेगा। ऐसा स्वस्थ नियत्रण विमल विज्ञानी ही कर सकता है। जिसका अन्त करण शुद्ध होगा वही अपने विशिष्ट ज्ञान से ऊची–नीची दशाओ मे अपने सयम को बनाये रख सकेगा। वह जीवन को उस रूप मे रखेगा कि जीवन की खराबी को वह स्वय ही दूर कर सके। जीवन के विकारो पर अगर काबू पा लिया जाए तो शरीर की कई प्रकार की व्याधिया भी स्वत ही ठीक हो जायेगी। अधिकाश बीमारिया भी बीमार मन से ही पैदा होती है।

विमल विज्ञानी ही अपने जीवन का स्वय नियत्रक हो सकता है, क्योकि वह समझता है कि मानव–शरीर पैसा कमाने की मशीन के ही रूप मे काम लेने की चीज नही है। यह सोच कर वह इस शरीर का दुरुपयोग रोक देता है और उसे सासारिक विषय-विकारो की उलझन से बाहर निकाल कर आत्मकल्याण एव लोकसेवा के मार्ग पर चलाने का सत्प्रयास आरभ कर देता है। यही उसके विमल विज्ञान का तकाजा होता है।

जीवन को निरर्थक होने से बचावें, अविनाशी की सेवा में जावें

यह खयाल रखिये कि मनुष्य–शरीर केवल एक मशीन के समान नही है कि उसे पैसा कमाने का ही काम लेना है। यही उद्देश्य रखा तो वास्तव मे यह अमूल्य जीवन निरर्थक चला जाएगा। अत आप इस शरीर को ससार के विषयो मे ही मत उलझाये हुए रखिये– इससे अविनाशी प्रभु की सेवा कीजिये, आत्मोत्थान हेतु साधना मे लगिये और जीवन को निरर्थक होने से बचाइये।

सासारिक उपलब्धिया प्राप्त करके आप समझ लेते है कि आपने

बहुत- कुछ सफलता प्राप्त कर ली है। सफलता का यह एक महज भ्रम होता है। अगर आपने अपने जीवन को आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से तैयार नही किया तो कोरी इस सफलता का क्या मूल्य है? वैज्ञानिक बडे–बडे आविष्कार करते हैं। इस युग मे वे अन्तरिक्ष यान द्वारा चन्द्रमा की सतह पर भी पहुच गये, किन्तु इस सफलता से उन्हे क्या मिला? अगर उन्होने सद्गुण–विकास के मापदड मे अपने जीवन को नहीं ढाला तो बडी-से-बडी भौतिक उपलब्धि उनके विकास मे क्या सहायता कर सकेगी? मधुमक्खिया छत्ता बनाती हैं ओर शहद दूसरे लूट लेते हैं– मक्खियो के हाथ कुछ नहीं लगता। ऐसी ही दशा दुनिया की है। दुनिया वालो के लिये रात-दिन पचो, अन्त मे आभार भी शायद ही मिले।

मनुष्य अपने व्यापार आदि से लाभ कमाने की कोशिश करता है, किन्तु अपना आत्मकल्याण करने का खयाल नही रखता है। याद रखिये, अविनाशी तत्त्व का खयाल नही रखा तो थोड़े दिनो मे घिस-घिसाकर ससार से खाली हाथ रवाना हो जाओगे। फिर दुनिया का सही नजारा आपके सामने आयेगा कि दुनिया मे अपनो के साथ भी कैसी–कैसी ठगी होती है। इसलिए अविनाशी प्रभु की सेवा मे मन लगा कर प्राप्त मानव–जीवन को सार्थक बना लीजिए।

विज्ञान की परिपक्वता से चारित्र–निर्माण की दिशा

भौतिक एव आध्यात्मिक विज्ञान का परस्पर सामजस्य तभी बैठेगा जब आध्यात्मिक विज्ञान को प्रमुखता दी जाएगी। दोनो के सामजस्य से ही विज्ञान मे परिपक्वता पैदा होगी तथा परिपक्व विज्ञान की सहायता से चारित्र-निर्माण के सामाजिक कार्य को पूरा बल मिलेगा।

एक व्यक्ति ने एक फकीर से पूछा– ईसा ओर मसूर फासी पर चढ कर भी शान्त कैसे रह सके? फकीर ने कहा कि कहने से बात समझ मे नही आयेगी। उसने एक पानी वाला नारियल उसके हाथ में दिया और कहा कि अन्दर से अखड गिरी निकाल दो। वह नहीं निकाल सका। तब फकीर ने पका हुआ सूखा नारियल दिया। उसकी उसने अखड गिरी निकाल दी। तब फकीर ने कहा– कच्चे नारियल की तरह जो ससार से चिपके हुए हैं, उनका ससार से छूटना मुश्किल होता है, जबकि महात्मा सूखी गिरी की तरह होते हैं जिनकी शान्ति मृत्यु भी भग नहीं कर सकती है।

वीतराग देवो ने विज्ञान की गूढ़ता तथा चारित्र–निर्माण की महानता के विषय मे बहुत-कुछ कहा है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके आदर्श पर चला जाए तथा अमरता प्राप्त की जाए।

*****



सबसे ऊपर गुणों की गरिमा

मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी,
कुभ पिता प्रभावती मैया तिनकी कुमारी।
मा नी कूख कन्दरा माही उपना अवतारी।
मालती कुसुम मानवी वाछा जननि उर धारी।।
मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी

परमात्मा के चरणो मे विविध प्रकार से स्तुति का प्रसग आ रहा है। नाम भी अलग–अलग है और प्रार्थना की पक्तिया भी अलग–अलग हैं, लेकिन भाव एक ही है कि आत्मस्वरूप विकसित होकर परमात्म–स्वरूप का वरण करे। यही परमात्मा की प्रार्थना की प्रेरणा है।

यह मल्लिनाथ परामात्मा की प्रार्थना है। इस अवसर्पिणी काल मे मल्लिनाथ परमात्मा एक महत्त्वपूर्ण तीर्थंकर के रूप मे अवतरित हुए। चौबीस तीर्थंकरो मे वे ही एक मात्र स्त्री–तीर्थंकर हुए। श्री मल्लिकुवरी ने तीर्थंकर के पद तक अपना आत्म–विकास साधकर चतुर्विध सघ की स्थापना की तथा तीर्थ पद को सुशोभित एव प्रकाशित किया। अत मल्लिनाथ प्रभु की प्रार्थना करते समय मस्तिष्क मे इस आत्मीय स्फुरणा का आभास होता है कि आत्मा की शक्तिया किसी शरीर के चोले के माध्यम से दब नही सकती है। वे, जहा भी श्रेष्ठतम पुरुषार्थ होता है, प्रकट होकर ही रहती हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि किसी भी प्रकार का भेद चरम विकास के आडे नही आता और सबसे ऊपर गुणो की गरिमा का ही स्थान रहता है।

चाहे स्त्री हो या पुरुष, आत्मविकास सबके लिये साध्य

वस्त्रो की पोशाको के समान आत्मा के लिये शरीर भी एक पोशाक ही है। जैसे आप एक कपडा फट जाने पर दूसरा कपडा बदल लेते हैं, उसी

तरह आयुष्य पूरा हो जाने पर आत्मा अपने शरीर को बदल लेती हैं। शरीर आत्मा का चोला है जो बदलता रहता है। यद्यपि पोशाके कई प्रकार की होती हैं, किन्तु आप इच्छित रूप मे ही अपनी पोशाक पसन्द करते हैं और उसे धारण करते हैं। यही स्थिति आत्मा के साथ भी है कि वह इच्छित रूप मे शरीर का अपना चोला अगीकार कर सकती है बशर्ते कि वह उस प्रकार का पुरुषार्थ करे तथा कर्म बाधे। इस जन्म का शरीर हो या अगले जन्म का शरीर, वह इच्छा के बिना नही मिलता है। शरीर की इच्छा रखने वाले ही शरीर प्राप्त करते हैं, वरना विकास की उच्चतम श्रेणियो मे पहुच कर भव्य आत्माए शरीर की इच्छा ही समाप्त कर देती हैं।

इस मानव जीवन मे लिग की दृष्टि से हम देखते है कि पुरुष का शरीर भी होता है तथा स्त्री का शरीर भी। दोनो के शरीर इस जन्म की कृति का फल नही होते है, बल्कि ये पूर्वजन्म की कृति के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। इस जीवन मे जिस प्रकार के कार्य किये जायेगे, उनके अनुसार कर्मो का बधन होगा तथा उनका फल साधारणतया अगले जन्म मे प्राप्त होगा।

स्त्री या पुरुष का शरीर इस दृष्टि से पिछले जन्म के आत्म–पुरुषार्थ के फल रूप मे प्राप्त हुआ है, किन्तु इस शरीर–भेद के कारण इस जन्म मे आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध होता हो अथवा दोनो शरीरो के द्वारा पुरुषार्थ एव साधना की गति मे अन्तर आता हो, ऐसी कोई बात नही है। चाहे स्त्री का शरीर हो या पुरुष का, आत्मविकास दोनो के लिये समान रूप से साध्य होता है तथा मल्लिनाथ प्रभु इस सत्य के आदर्श उदाहरण हैं।

नारी अबला नहीं, समान रूप से सबला होती है

शारीरिक पिड की दृष्टि से जब पुरुष का शरीर दिखता है तो उसे पुरुष के नाम से सम्बोधित किया जाता है और इसी तरह जब नारी की आकृति दिखाई देती है तो उसे नारी कहते हैं। यह शरीर–बोध की स्थिति है। कभी–कभी पुरुषो के मस्तिष्क मे नारियो के विषय मे विचित्र ढग की कल्पनाए चलती हैं और वे सोच लेते हैं कि नारी तो अबला होती है, वह अपने आपे पर कुछ नही कर सकती है। मल्लिनाथ भगवान् का जीवन पुरुषो के ऐसे सोचने को गलत साबित करता है बल्कि स्पष्ट घोषणा करता ह कि नारी अबला नहीं, पुरुष के समान ही वह पूर्ण रूप से सबल होती है।

तीर्थंकर देवो ने नारी को कहीं भी अबला रूप मे घोषित नहीं किया है, वरन् प्रसंग आने पर स्पष्ट किया हे कि नारी कितनी सबला होती है। श्री मल्लि प्रभु ने स्वय तीर्थंकर पद तक अपना आत्म–विकास करके नारी के बल

का एक अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है।

मल्लिकुमारी एक राजकन्या थी। प्रारभ से उस राजकन्या ने सभी क्षेत्रो मे अपने असीम प्रभाव का दृश्य उपस्थित किया था। शरीर से वे अनन्य सुन्दरी थी तो सद्‌गुणसम्पन्न एव अमित प्रतिभाशाली भी थी। जब एक साथ छ मदोन्मत्त राजा अपने सैन्यबल के साथ मल्लिकुमारी से विवाह करने के लिये पहुचे और उन्हे समझाना कुभ राजा के लिये भी अशक्य हो गया, तब जिस सूझ–बूझ एव आत्मिक शूरता से मल्लिकुमारी ने उन छ राजाओ को सम्बोधित किया, वह एक अपूर्व घटना है। नारी का बल पुरुषो पर इस आश्चर्यजनक रीति से प्रदर्शित हुआ कि उन पागल राजाओ के विकारो का ही शमन नही हुआ, बल्कि वे सभी मल्लिकुमारी की दीक्षा के साथ ही स्वय भी दीक्षित हो गये।

कामोन्मत्त राजाओ को जिस साहस, बुद्धि एव कला से मल्लिकुमारी ने प्रतिबोधित किया– वह अनुपम उदाहरण है। स्वर्ण प्रतिमा एव पुतलीघर का जिस विधि से निर्माण कराया गया तथा उससे एकसाथ सभी राजाओ को नारी रूप की आन्तरिक स्थिति से परिचित कराया, वह घटना मल्लिकुमारी के अपूर्व बुद्धि कौशल पर प्रकाश डालती है। फिर उन्होने साहस के साथ सभी राजाओ को उनकी अनियत्रित विकारी प्रवृत्ति के लिये बुरी तरह से फटकारा। एक नारी के तेज से अपने को पराक्रमी मानने वाले वे पुरुष पराजित हो गये।

नारी की अवमानना नहीं, गुणों की गरिमा का प्रश्न

धार्मिक क्षेत्र मे भी जहा बहिनो की शक्ति वर्तमान मे दृष्टिगत होती है तो दिमाग की ताकत लगाकर कुछ विचित्र तर्कें प्रस्तुत की जाती हैं। यह प्रश्न भी प्रस्तुत किया जाता है कि पचास वर्ष की दीक्षित साध्वी के लिये एक दिन के दीक्षित साधु को वन्दन करने का प्रावधान क्यो रखा गया है? क्या इस वन्दन के प्रावधान से स्त्री के गुणो का अवमूल्यन नही किया जाता है? क्या एक दिन के दीक्षित साधु मे इतने गुण समा गये कि उतने गुण पचास वर्ष की दीक्षिता साध्वी के जीवन मे नही समा सके? ये प्रश्न कुछ टेढे हैं और कई लोग उलझन मे पड जाते हैं। कई यह भी कह देते है कि विधान बनाने वाले पुरुष थे सो उन्होने पुरुष वर्ग की प्रतिष्ठा को ऊपर रखा तथा इस प्रकार नारी की अवमानना की। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नही है। वास्तविक दृष्टिकोण इससे भिन्न हे।

धार्मिक परम्पराओ का जो-कुछ विधान सामने हे, वह नारी की अवमानना के रूप मे नही हे, बल्कि गुणो की गरिमा के साथ हे। इस गरिमा

को समझने के लिये केवल वर्तमान को ही देखने से काम नहीं चलेगा, इसके साथ ही भूत एव भविष्य पर भी दृष्टिपात करना होगा। इस दृष्टिपात मे गभीर मनन का होना भी आवश्यक है।

भूतकाल मे इस आत्मा ने जो शुभ एव अशुभ कर्मो का बध किया था उसका फल वर्तमान मे आत्मा भोगती है। इसी प्रकार यह आत्मा वर्तमान मे जिस रूप मे शुभ एव अशुभ कर्मो का बध करती है, उसका फल उसे भविष्य मे भोगना पड़ेगा। भूतकाल मे कल्पना करे कि एक आत्मा ने असातावेदनीय कर्म का बध किया, किन्तु वर्तमान के जीवन मे वह आत्मा सबको साता पहुचाती है और कही भी अशुभ कार्य मे प्रवृत्त नही होती हे, फिर भी भूतकाल के असातावेदनीय कर्म का फल तो वेदना और पीडा के रूप मे उसको वर्तमान मे भुगतना ही पडेगा। अब उस पीडा को भुगतते समय वह सोचे कि उसने सबको साता पहुचाई है, फिर उसको ही यह असाता क्यो हुई? इस उलझन का निराकरण उसको इस चिन्तन मे ही मिलेगा कि यह पूर्वभव के कर्मबध का फल है जो अब प्रकट हो रहा है। उसने वर्तमान जीवन मे सबको जो साता पहुँचाई है, उसका सुखद फल उसे भविष्य मे प्राप्त होगा।

इस विश्लेषण पर थोडा गहरा चिन्तन करे। साध्वी का जो साधु को वन्दन करने का विधान है, वह वर्तमान पिड के साथ है। यह वर्तमान शरीर जो मिला है, वह पूर्व कर्मो का फल है तथा इस वर्तमान जीवन मे आने वाली शुभ वृत्तिया एव प्रवृत्तिया भविष्य मे अपना फल देगी। पूर्वजन्म मे जिस आत्मा ने पुरुष योनि के कर्म सम्पादित किये, उसके फलस्वरूप उसे वर्तमान मे पुरुष शरीर मिला तथा इसी प्रकार स्त्री योनि के कर्मो के उपार्जन से वर्तमान में स्त्री का शरीर मिला। वर्तमान का यह शरीर, पिड या चोला पूर्वजन्म की करणी से प्राप्त हुआ है। अब यह विचारणीय विषय है कि किस–किस प्रकार के कर्मबध से पुरुष, स्त्री या अन्य शरीर की प्राप्ति होती है।

शुभ कर्मो के बध में भी श्रेणीभेद होता है और जिस प्रकार की रचना पुरुष व स्त्री शरीरो की है, उनसे यह निश्चित है कि पुरुष शरीर श्रेष्ठतर हैं– शक्ति एव क्षमता की सामान्य दृष्टि से भी। अधिक गुणो के उपार्जन से अधिक शुभ कर्मो का बध होता है तो पुरुष शरीर का कर्मबध निश्चय ही गुण-गरिमा पर आधारित है।

सबसे ऊपर गुणो की गरिमा प्रतिफलित होती है।

शास्त्रकारो ने मोह के भेदो के अन्तर्गत तीन भेद मुख्य रूप स बताये हैं– पुरुषवेद, स्त्रीवेद तथा नपुसकवेद। इन तीनो के लक्षणो का भी उल्लेख

किया गया है, लेकिन इन लक्षणो के कारणो की जानकारी करने के लिये भूतकाल मे जाना होगा। वर्तमान मे बिना इसके इन तीनो वर्गों का बयान कैसे किया जा सकता है? भिन्न–भिन्न लिग के शरीर वर्तमान मे उपलब्ध हैं, किन्तु इनकी आज की उपलब्धि का कारण अवश्य ही भूतकाल मे रहा हुआ है।

मोहदशा का अन्तर समझाते हुए बताया गया है कि एक अग्नि तृणाग्नि होती है जो जल्दी लगती और जल्दी ही बुझ जाती है। उसके बाद पारेशाग्नि होती है– छाणो की आग, जो जलने और बुझने मे तृणाग्नि से अधिक समय लेती है। जिस आत्मा ने अपनी मोह दशा को पूर्वभव मे तृणाग्नि के समान हल्के रूप मे रखा, उसने इस जन्म मे पुरुष–शरीर को प्राप्त किया है। पारेशाग्नि के समान मोहदशा वाली आत्माए इस जन्म मे नारी शरीर मे उत्पन्न हुई है। इन दोनो से अधिक कठिन व लम्बे समय तक जलने वाली आग होती है दावाग्नि और ऐसी क्लिष्ट मोहदशा मे रहने वाली आत्माए इस जन्म मे नपुसक लिग को प्राप्त करती हैं। शरीर के इन तीनो रूपो मे मोहदशा के हलके या भारीपन का तथ्य रहा हुआ है।

जैन शास्त्रो मे सर्वत्र गुण की दृष्टि से ही मापदड मानने की पद्धति रही हुई है एव गुण का मापदड मुख्य रूप से प्रधान कर्ममोह के न्यूनाधिक्य के अनुसार देखा जाता है। जिसकी मोहदशा हल्की है, वह अधिक गुणी है तथा मोहदशा का भारीपन अधिक रूप से आत्मिक गुणो को दबाता है। मोहकर्म की चिकनाई आठो कर्मों मे सबसे ज्यादा मानी गई है। अगर मोहकर्म हलका होता है तो अन्य कर्म स्वत ही क्षीण हो जाते हैं। मोहकर्म को जो आत्मा हलका कर सकती हे, वह केवल अपनी उच्चतर साधना के बल पर ही। उच्चतर साधना का अर्थ होता है, अधिकतर गुणो का सम्पादन। पुरुष का शरीर आगे के जन्म मे मिले– इसके लिये स्त्री–शरीर की साधना से अधिक साधना की आवश्यकता होगी तो पुरुषो का शरीर अधिक गुणसम्पन्नता के कारण मिल सका है– इस तथ्य को स्वीकार करना पडेगा। साध्वी द्वारा साधु को वन्दन करने का जो विधान है, इसके पीछे यही दृष्टि है।

गुण–गरिमा की चौदह सीढ़ियां, गुणस्थान के सोपान

गुण-गरिमा अथवा आत्मोत्थान की दृष्टि से जैन दर्शन मे जो सीढिया वताई गई हैं, उन्हे गुणस्थान कहा गया है, जो सख्या मे चौदह हैं। कर्मग्रस्त आत्मा गुणो की श्रेणी पहली सीढी से चढकर जब पाचवी सीढी पर पहुचती है तो उस पर श्रावकत्व की भावना पनपती है। छठे गुणस्थान से साधु वृत्ति वनती हे। यहा से नवे गुणस्थान तक साधु वृत्ति हे। नवे गुणस्थान

से आगे मोक्ष-साधना का क्रम आरभ हो जाता हे। स्त्री वर्ग दूसरे गुणस्थान से चलते हुए नवे गुणस्थान तक वढता है। स्त्री का गुणस्थान पुरुष से हलका माना हे, इसलिये पुरुष की ज्योति अधिक मानी गई है। बडे पद की स्थिति को लेकर शरीर पिड के साथ वन्दन का प्रसग जुडा हुआ है। वर्तमान जीवन की शक्ति का इससे कोई सम्बन्ध नही हैं। स्त्री वर्ग भी नवे गुणस्थान से आगे मल्लिकुमारी की तरह मोक्ष की साधना मे जुट सकता हे। वर्तमान मे पुरुष को जो ऊपर मानने का विधान है, वह पुरुष के अभिमान की दृष्टि से नही बना है, बल्कि पूर्वार्जित कर्मो की ज्येष्ठता की दृष्टि से गुणो के आधार पर ही बना है। गुणो की श्रेष्ठतरता के कारण ही यह वन्दन हे। जिस समय शरीर पिड नहीं है तो उस समय चतुर्विध सघ का वन्दन उन सबको किया जाता हे जो सत्तावीस गुणो से युक्त होते हैं।

पद की दृष्टि से वन्दन का महत्त्व आप व्यावहारिक दृष्टि मे भी आक सकते हैं। एक पुत्रवधू है जिसको पचास वर्ष के लगभग धर्म की आराधना करते हो गये हैं– पच्चीस वर्ष से शीलव्रत पाल रही है। दूसरी तरफ उसके स्वसुर अट्ठारह वर्ष की लडकी से शादी करते हैं जो न धर्म के विषय मे कुछ जानती है, न शीलव्रत के बारे मे। वह नई दुल्हिन ससुराल पहुँचती हे, अब बताइये कि कौन किसका पद–वन्दन करेगी? पचास वर्ष की बींनणी अट्ठारह वर्ष की सास का पद–वन्दन करेगी या नहीं? इसी आयु के अन्तर के आपको चाचा–भतीजा मिल जायेगे। इसे आप छोटा या बडा पद कहते हें। इसी तरह पद के प्रसग में वय और गुण की स्थिति गौण हो जाती है।

किन्तु मूल स्थिति मे सम्मान गुणो का ही होता हे। अस्सी वर्ष के दीक्षित साधु को छोड कर योग्य और होनहार आठ वर्ष के दीक्षित साधु को आचार्य पदवी दी जा सकती है। वृद्ध गुरुजी बेठे रह जाते हें ओर साधक शिष्य अपने सारे कर्म खपाकर मोक्षगामी बन जाता हे। ऐसी ही स्थिति स्त्री एव पुरुष जीवन के बीच मे भी बन सकती हे। जहा आत्मसाधना द्वारा गुण अथवा गुणस्थान प्राप्ति का प्रश्न है, वहा लिगभेद अथवा अन्य किसी भी प्रकार के भेदभाव की कोई गुजाइश नही हे।

गुण सम्पादन का भेद ही प्रमुख होता है!

पूर्वजन्म के कर्मो की स्थिति से ही वर्तमान मे प्राप्त शरीर सरचना हे और यह प्राप्ति उस जन्म मे गुण सम्पादन के आधार पर हुई ह। यदि गुण सम्पादन का पुरुषार्थ उस सीमा तक पहुच जाता, जिसके फलस्वरूप पुरुष नामकर्म का बध होता है तो इस जन्म मे पुरुष लिग प्राप्त होता है। यदि गुण

सम्पादन का वह पुरुषार्थ उस सीमा से नीचा रहा या कि मोहदशा कुछ अधिक क्लिष्ट रही तो उसके परिणामस्वरूप स्त्री लिग प्राप्त होता है। आज का जो शरीर-भेद है, वह पूर्वजन्म के गुण सम्पादन के भेद के सिवाय कुछ नहीं है। इसी दृष्टिकोण के लेकर स्थानाग सूत्र के 10वे पद में पुरुष का ज्येष्ठत्व बताया गया है।

किन्तु वर्तमान जीवन मे गुण सम्पादन अथवा साधना की दृष्टि से स्त्री पुरुष मे कोई भी भेद नही किया गया है क्योकि भविष्य मे जो भी पिड इस आत्मा को मिलेगा, वह वर्तमान जीवन के गुण सम्पादन की दृष्टि से ही मिलेगा। वर्तमान मे यह सोचा जा सकता है कि गुण की गरिमा अधिक है तो गुण की दृष्टि से वन्दन किया जाए किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता हे जब यह पिड सामने न हो।

वर्तमान जीवन के गुण सम्पादन में कोई भेद नहीं!

चाहे स्त्री हो या पुरुष, वर्तमान जीवन के गुण सम्पादन मे कोई भेद नही माना गया है। विशेष रूप से नारी जाति की शक्ति के कई गौरवपूर्ण उदाहरण इतिहास मे है और वर्तमान मे भी सामने आते रहते हैं। नारी जाति की शक्ति की अभिव्यक्ति समय–समय पर हुआ करती है। आज महिलाओ मे जागृति आ रही है और साध्वी वर्ग भी अच्छी शक्ति सम्पादित कर रहा है। इस विकास को देखते हुए अबला–सबला का प्रश्न गौण हो गया है। सारे देश का राजनीतिक नेतृत्त्व भी एक महिला ही कर रही है। माता के रूप मे नारी के दिये हुए सस्कारो के आधार पर ही समाजिक ढाचा ढलता है। हिसा या अहिसा के सस्कार देने वाली भी माताए ही होती है। वे अप्रत्यक्ष रूप से समाज-निर्मात्री होती हैं। माताओ मे निष्ठा और शक्ति है, वे अपूर्व कार्य कर सकती हैं।

अभी विजया बहिन ने करणी माता के मन्दिर मे बलिदान बन्द कराने की बात कही तो मेरा यही कहना है कि करणी माता मनुष्यो के साथ पशुओ की भी माता है, फिर क्या कोई माता अपनी ही सन्तान का भक्षण कर सकती है? इस स्थिति को सबको समझावे।

सद्गुणी जीवन महकते फूल की तरह

यह मानव जीवन तभी धन्य है जबकि इसे सद्गुणो से विभूषित बनाया जाए। जैसे एक महकता हुआ फूल अपनी महक से सारे वातावरण को सुगन्धित बना देता है, उसी प्रकार एक सद्गुणी जीवन सारे ससार को अपने आदर्श की प्रेरणा देता है। अत अधिक से अधिक सद्गुणो का सम्पादन करे।





जैसा करोगे, वैसा फल पाओगे!

श्री मुनि सुव्रत साहिबा
दीनदयाल देवा तणा देव के.
तरण तारण प्रभु मो भणी
उज्ज्वल चित्त समरु नितमेव के.....

परमात्मा सबका है, इसीलिये उसे याद किया जाता है। इस ससार मे परमात्म–तत्त्व से बढ़कर कोई भी स्मरणीय तत्त्व नही है। जो परामात्मा का स्वरूप है, मूल रूप मे वही आत्मा का स्वरूप हे। आप सब भाई–वहिन अलग–अलग पोशाको मे बैठे हैं। किसी की कैसी पोशाक हे और किसी की कैसी। यह पोशाक का फर्क है। मै आत्मा हू, इस भाई मे भी आत्मा है, उस वहिन मे भी आत्मा है। आत्मा जव सब मे है तो प्रश्न उठता है कि फिर सवमे इतना अलगाव क्यो है?

आज की इस विषमता का मूल कहां पर है?

आप मे से एक भाई धनवान है उनके पास बड़ी हवेली है, ऋद्धि–समृद्धि है। एक भाई गरीब है, पास मे दो वक्त खाने का भी पूरा प्रवन्ध नही है। उनके पास ठीक स्थिति का झोंपड़ा भी नहीं है और वे दुःख पा रहे हैं। इस विषमता के मूल की खोज करनी चाहिये।

वर्तमान समय मे पाये जाने वाले व्यवहार की दृष्टि से देखें तो आपको अनुभव होगा कि समाज या राष्ट्र मे जो व्यक्ति साफ-सुथरा जीवन जीते हैं और सार्वजनिक हित के काम करते हैं, उन्हे सब अच्छा कहते हैं। उनकी वह अच्छाई उनकी लोकप्रियता का कारण बनती है। दूसरी ओर जो व्यक्ति अपने जीवन को अनीति, दुर्भावना एव दुष्कृत्यों से रगते रहते हैं तथा सर्वत्र दूसरों का दुःख एव कष्ट पहुचाने की कुचेष्टाए करते रहते हैं, उन्हें सभी बुरा कहते है तथा बुरे व्यक्ति सबको उपेक्षा एव घृणा के पात्र बनते हैं। यह व्यवहार की बात है कि अच्छा करने वाला अच्छा कहलायेगा और बुरा

करने वाला बुरा। सभी अच्छे को चाहते हैं, बुरे को सभी भला–बुरा कहते हैं।

इस व्यावहारिक स्थिति से यह स्पष्ट पता चलता हे कि किसी भी व्यक्ति को उसकी करणी के हिसाब से मान दिया जाता है। मान व प्रतिष्ठा अथवा अपमान व अप्रतिष्ठा मनुष्य को अपने कार्यों से मिलते हैं। मान या अपमान अच्छे या बुरे कार्यों पर निर्भर करता हे। इसे करने के फल के रूप मे देखा जा सकता हे। करना एक बात और उसका फल मिलता हे मान या अपमान के रूप मे। इसका यह अर्थ हुआ कि फल की प्राप्ति करने के अनुसार होती है। जेसा करना वेसा भरना।

अब करने और फल पाने मे समय की जितनी अधिक दूरी होगी ओर जानकारी का भी अभाव होगा तो दोनो का सही सम्बन्ध न जुड पाने के कारण फलभोग के समय कई भ्रान्तिया पैदा हो सकती हैं। फल अच्छा या बुरा आज सामने आता है और कल की करणी की जानकारी नही होती है जिससे वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष पैदा होता है। किन्तु इसे सत्य मानिये कि आज की स्थिति जो फलरूप मे सामने है, उसका मूल पहले की करणी मे रहा हुआ है और जो करणी की गई है, अच्छी या बुरी, उसका वैसा अच्छा या बुरा फल आज भोगना ही होगा। आज की इस दिखाई देने वाली विषमता का मूल प्रत्येक आत्मा की भूतकाल की अपनी ही करणी मे रहा हुआ है।

आगे के लिये समता के बीज बोने का समय आज है

आज आप जो अच्छा करेगे, उसका अच्छा फल आपको कल मिलेगा। कल को सुधारना है तो पहले आज को सुधारना पडेगा। गये हुए कल मे आपने जैसी करणी की, उसका फल आज भोग रहे हैं। यह फलभोग तटस्थता से ग्रहण करे और अच्छी करणी के आज बीज बोए तो आने वाले कल मे उसका सुखद फल पा सकेगे। आप देखते हैं कि आज जो पूरा परिश्रम करके आम का पेड लगाता है, उसे ही मीठे आम नसीब हो सकते हैं। बबूल का पेड लगाकर जो मीठे आम की इच्छा करता है, क्या उसे मीठे आम प्राप्त हो सकते है?

आप लोग इस शिक्षा को दिल मे उतारे। सत्सगति से ऐसी शिक्षा मिलती है और उस समय यदि ऐसी शिक्षाओ को समझ कर आप अपना आचरण बदल ले तो आगे के लिये आप अवश्य ही अच्छे फल के बीज आज बो लेगे। आप भी कभी कल्पना करते होगे कि हम भी ऐश्वर्यशाली बने– दूसरो को दे सकने की क्षमता वाले बने। हम भी ज्ञानी एव चारित्रशाली बने–

ताकि अपनी आत्मा का भी कल्याण कर सके। तो आप अपनी ऐसी कल्पना को साकार बनाने की पृष्ठभूमि का निर्माण आज ही कर सकते हैं। केवल कल्पना से काम नही होता– करने से होता हे। काम पहले किया जाता हे तव वाद मे उसका फल मिलता हे।

किन्तु कर्मण्यता का यह ज्ञान सत्सगति के बिन मुश्किल से ही मिलता हे। घडी-भर भी सन्त–सगत हो जाए तो दिनभर के कामो पर एक सही नियत्रण वन जाता हे। सत्सगति से घोर पापियो का जीवन भी बदल कर पुनीत होता हुए देखा गया हे। यह सत्सगति भी पुण्य के उदय से ही मिलती हे जो आपको मिली है, किन्तु इसका लाभ नही उठा पायेगे तो अवसर निरर्थक चला जाएगा। इसलिये भविष्य के श्रेष्ठ निर्माण के लिये आज ही सत्कर्म करना प्रारभ कर दीजिये। आगे के लिये समता के बीज बोने का समय आज है। आज की आपकी सद्भावना सदास्था तथा सत्चेष्टा कल के लिये समतामय वातावरण की अवश्य ही सृष्टि करेगी। आने वाला कल सदा आज की ही बुनियाद पर बनता हे– इस सत्य को याद रखे।

जैसा बोवोगे, वैसा काटोगे

किसान अपने खेत मे जैसे बीज बोता हे, उसी बीज की फसल उसे काटनी होती है। वह जौ बोएगा तो जौ की फसल काटेगा ओर गेहू बोएगा तो गेहू की फसल काटेगा। यह नहीं हो सकता कि जौ बोकर उसे गेहू की फसल काटने को मिल जाए। एक व्यक्ति बचपन से प्राणियो को कष्ट पहुचावे, गरीयों को सतावे तथा हिसापूर्ण कार्यो मे लगा रहे तो ऐसे कामो से उसके पापकर्मो का वध होगा और जब उन पापकर्मो का उदय आयेगा तो उसे उनका अशुभ फल भोगना ही पड़ेगा। अब वैसा फल भोगते समय वह हाय-विलाप करे अथवा क्रोध–आक्रोश करे तो वह फिर उस समय भी अपनी करणी को विगाड़ कर आगे के लिये भी अपने वास्ते दुखदायी फल की रचना कर लेता है। दूसरी ओर फलभोग के समय जो शान्ति से बुरे फल को सह लेता है और पहले की अशुभ करणी को महसूस कर लेता है, वह उस समय शुभ करणी की सतह पर आ जाता है तथा आगे के लिये शुभ फल की नीव रख देता है।

जब पहले की अशुभ करणी के फलस्वरूप पाप का उदय आता है तो मनुष्य ऊपर नही उठ सकता है। चाहे वह दिनभर मेहनत करे चोटी का पसीना एड़ी तक पहुचाये, किन्तु पाप उसके आड़े आता रहता है और उसे सुखी नही होने देता है। किन्तु ऐसा मुनष्य भी सन्त–सगत मे आकर बुरे

करने वाला बुरा। सभी अच्छे को चाहते हैं, बुरे को सभी भला–बुरा कहते ह।

इस व्यावहारिक स्थिति से यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी करणी के हिसाब से मान दिया जाता है। मान व प्रतिष्ठा अथवा अपमान व अप्रतिष्ठा मनुष्य को अपने कार्यों से मिलते हैं। मान या अपमान अच्छे या बुरे कार्यों पर निर्भर करता है। इसे करने के फल के रूप मे देखा जा सकता हे। करना एक बात ओर उसका फल मिलता हे मान या अपमान के रूप मे। इसका यह अर्थ हुआ कि फल की प्राप्ति करने के अनुसार होती है। जेसा करना वैसा भरना।

अब करने ओर फल पाने मे समय की जितनी अधिक दूरी होगी ओर जानकारी का भी अभाव होगा तो दोनो का सही सम्बन्ध न जुड पाने के कारण फलभोग के समय कई भ्रान्तिया पैदा हो सकती हैं। फल अच्छा या बुरा आज सामने आता है और कल की करणी की जानकारी नहीं होती हे जिससे वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष पैदा होता है। किन्तु इसे सत्य मानिये कि आज की स्थिति जो फलरूप मे सामने है, उसका मूल पहले की करणी मे रहा हुआ है और जो करणी की गई है, अच्छी या बुरी, उसका वैसा अच्छा या बुरा फल आज भोगना ही होगा। आज की इस दिखाई देने वाली विषमता का मूल प्रत्येक आत्मा की भूतकाल की अपनी ही करणी मे रहा हुआ है।

आगे के लिये समता के बीज बोने का समय आज है

आज आप जो अच्छा करेगे, उसका अच्छा फल आपको कल मिलेगा। कल को सुधारना है तो पहले आज को सुधारना पडेगा। गये हुए कल मे आपने जैसी करणी की, उसका फल आज भोग रहे हैं। यह फलभोग तटस्थता से ग्रहण करे और अच्छी करणी के आज बीज बोए तो आने वाले कल मे उसका सुखद फल पा सकेगे। आप देखते हैं कि आज जो पूरा परिश्रम करके आम का पेड लगाता है उसे ही मीठे आम नसीब हो सकते हैं। बबूल का पेड लगाकर जो मीठे आम की इच्छा करता है, क्या उसे मीठे आम प्राप्त हो सकते है?

आप लोग इस शिक्षा को दिल मे उतारे। सत्सगति से ऐसी शिक्षा मिलती है और उस समय यदि ऐसी शिक्षाओ को समझ कर आप अपना आचरण बदल ले तो आगे के लिये आप अवश्य ही अच्छे फल के बीज आज बो लेगे। आप भी कभी कल्पना करते होगे कि हम भी ऐश्वर्यशाली बने– दूसरो को दे सकने की क्षमता वाले बने। हम भी ज्ञानी एव चारित्रशाली बने–

ताकि अपनी आत्मा का भी कल्याण कर सके। तो आप अपनी ऐसी कल्पना को साकार बनाने की पृष्ठभूमि का निर्माण आज ही कर सकते हैं। केवल कल्पना से काम नही होता– करने से होता है। काम पहले किया जाता हे तब बाद मे उसका फल मिलता है।

किन्तु कर्मण्यता का यह ज्ञान सत्सगति के बिन मुश्किल से ही मिलता है। घडी-भर भी सन्त–सगत हो जाए तो दिनभर के कामो पर एक सही नियत्रण बन जाता है। सत्सगति से घोर पापियो का ज़ीवन भी बदल कर पुनीत होता हुए देखा गया है। यह सत्सगति भी पुण्य के उदय से ही मिलती है जो आपको मिली है, किन्तु इसका लाभ नही उठा पायेगे तो अवसर निरर्थक चला जाएगा। इसलिये भविष्य के श्रेष्ठ निर्माण के लिये आज ही सत्कर्म करना प्रारभ कर दीजिये। आगे के लिये समता के बीज बोने का समय आज है। आज की आपकी सद्भावना सदास्था तथा सत्चेष्टा कल के लिये समतामय वातावरण की अवश्य ही सृष्टि करेगी। आने वाला कल सदा आज की ही बुनियाद पर बनता है– इस सत्य को याद रखे।

जैसा बोवोगे, वैसा काटोगे

किसान अपने खेत मे जैसे बीज बोता है उसी बीज की फसल उसे काटनी होती है। वह जौ बोएगा तो जौ की फसल काटेगा और गेहू बोएगा तो गेहू की फसल काटेगा। यह नही हो सकता कि जौ बोकर उसे गेहू की फसल काटने को मिल जाए। एक व्यक्ति बचपन से प्राणियो को कष्ट पहुचावे गरीबो को सतावे तथा हिसापूर्ण कार्यों मे लगा रहे तो ऐसे कामो से उसके पापकर्मो का बध होगा और जब उन पापकर्मो का उदय आयेगा तो उसे उनका अशुभ फल भोगना ही पडेगा। अब वैसा फल भोगते समय वह हाय-विलाप करे अथवा क्रोध–आक्रोश करे तो वह फिर उस समय भी अपनी करणी को बिगाड कर आगे के लिये भी अपने वास्ते दुखदायी फल की रचना कर लेता है। दूसरी ओर फलभोग के समय जो शान्ति से बुरे फल को सह लेता है और पहले की अशुभ करणी को महसूस कर लेता है, वह उस समय शुभ करणी की सतह पर आ जाता है तथा आगे के लिये शुभ फल की नीव रख देता है।

जब पहले की अशुभ करणी के फलस्वरूप पाप का उदय आता है तो मनुष्य ऊपर नही उठ सकता है। चाहे वह दिनभर मेहनत करे चोटी का पसीना एडी तक पहुचावे, किन्तु पाप उसके आडे आता रहता है और उसे सुखी नही होने देता है। किन्तु ऐसा मुनष्य भी सन्त–सगत में आकर बुरे

कार्यों से दूर रहने का सकल्प लेले, अच्छे कामो मे जुट जावे तो उसके जीवन मे परिवर्तन आ सकता है तथा भविष्य भी फलदायक बन सकता है। अपने सकल्प पर उसकी जितनी दृढता रहेगी, उतना ही अच्छा फल उसे मिलेगा। एक कवि ने कहा है–

बोवोगे जैसा बीज, वैसा ही लहराएगा,
जैसा करोगे वैसा ही फल आगे आएगा।
कुए मे एक बार कुछ भी बोल दीजिए–
जैसा कहोगे वैसा ही वह भी सुनाएगा।

कवि ने बहुत ही शिक्षाप्रद बात कही है। यह शिक्षा अगर मनुष्य मन मे जमा ले तो अपने किसी भी फल के लिये वह दूसरो को दोष देना छोड देगा और अपनी जिम्मेदारी अपने सिर पर लेकर अपनी ही करणी को सुधारने का यत्न करेगा। जैसा बीज, वैसा फल। जैसा करोगे, वैसा परिणाम भुगतोगे। जैसी आप ध्वनि निकालोगे, वैसी ही प्रतिध्वनि आपको सुनाई देगी। कुए मे आवाज लगाने से वही आवाज प्रतिध्वनित होकर वापिस बाहर सुनाई देती है। इसी रूप मे धर्म की करणी का बीज बोएगे, मन, वचन एव कर्म से शुभ प्रवृत्तिया चलायेगे तथा प्राणियो को सुख देने की ध्वनि निकालेगे तो वैसा ही शुभ फल आपको आगे प्राप्त होगा। फल कोई देता नही, स्वय आत्मा ही लेती है।

शुभ करणी में प्राणीरक्षा एवं लोकहित का विशेष महत्त्व

जैसे अच्छे बीज को बोने से धरती माता अच्छी फसल का अच्छा फल देती है, वैसे ही इस जीवन मे जो शुभ करणी की जाती है, आत्म–पटल पर आगे उसका शुभ फल अवश्य प्रकट होता है। इस शुभ करणी मे प्राणीरक्षा एव लोकहित को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योकि मनुष्य अकेला नही रहता, समाज के बीच मे रहता हे तो उसकी शुभ या अशुभ करणी की कसौटी यही पर होती है। अधिकाशत समाज के ससर्ग से ही व्यवहार बनता है। अच्छा व्यवहार बनता हे तो सबको प्रियकारी लगता है। प्रियकारी वही व्यवहार लगेगा जो दूसरो को सुख पहुचाने वाला होगा। दूसरो को अपने व्यवहार से दु ख पहुचाओगे तो समाज मे अप्रतिष्ठा मिलेगी तथा दूसरो की घृणा। इसलिये प्राणीरक्षा एव लोकहित के कामो मे जो सजगता से प्रयत्न करता हे, वह अधिकतम लोगो को सुख पहुँचाता है। ऐसी शुभ करणी को श्रेष्ठतर बनाया गया है।

प्राणीरक्षा के सम्बन्ध मे देवी-देवताओ की मूर्ति के सामने पशुबलि की समस्या को ले ले। जैसे जोगमाया की मूर्ति के सामने लोग बकरे आदि पशुओ की बलि चढाते हैं और वे समझते हैं कि उन्होने धर्मिक काम किया है। वे भूल जाते हैं कि प्राणियो की हत्या करके उन्होने अशुभ करणी की है तथा उसका अशुभ फल उनको भोगना पडेगा। जोगमाया माता हैं तो क्या किन्ही खास आदमियो की माता हैं या सारे जगत् की माता हैं? यदि वह सारे जगत् की माता हैं तो उन पशुओ की भी माता हैं जिनकी बलि चढाई जाती है। तो क्या जोगमाया अपने ही बेटो का खून पीकर खुश होती है? अपने साथी प्राणियो को मार कर क्या आप मा को खुश कर सकते हैं? इस कृत्य को अपनी आत्मा पर घटा कर देखेगे तो आपको सही बात समझ मे आ जाएगी।

इस प्रसग मे एक छोटी-सी बात याद आ गई है। एक गाव मे एक अज्ञानी परिवार था। वह जोगमाया की पूजा के निमित्त पाडे–बकरे की बलि देने की तैयारी कर रहा था कि उधर से एक कुतिया ने आकर पूजा–सामग्री मे मुह डाल दिया। परिवार के मुखिया ने क्रोध मे आकर कुतिया पर डडा फेका जिसे उसकी टाग लगडी हो गई। पास से ही एक गुरु-शिष्य गुजर रह थे। इस घटना पर शिष्य ने पूछा– इस कुतिया का पैर इसने क्यो तोडा? गुरु ने उत्तर दिया– इसने अपनी ही मा का पैरा तोडा है। बलि चढाने वाले पुरुष ने यह बात सुन ली। उसने गुरु से कहा– आपने इस कुतिया को मेरी मा कैसे बताया? गुरु ज्ञानी थे, उन्होने कहा– आज यह कुतिया है– पूर्वभव मे तेरी मा थी। चूकि तेरी मा को कुत्तो को मारने की आदत थी सो नये जन्म मे वह कुतिया ही बन गई। उसने पूछा– अगर आप ज्ञानी हैं तो बताइये कि मेरी मा का धन कहा गडा हुआ है? नहीं तो मैं आपकी बात का विश्वास नही करता। गुरु असमजस मे पडे किन्तु मौका ऐसा ही था सो उन्होंने बता दिया। उसे खोदने पर धन मिल गया तो उसने महात्मा के चरण पकड लिये और पूछा– यह भी बता दीजिये कि मेरे पिता मर कर कहा जन्मे हैं? गुरु ने बताया– तुम्हारे पिता को बलि का बडा शौक था कई प्राणियो की उन्होने हत्या की इसलिये वे भी बलि का पाडा बने हैं। बाहर बलि चढाने के लिये जो पाडा तुमने खडा कर रखा है वह तुम्हारे पिता का ही जीव है। तुम अपने पिता को ही मारने की तैयारी कर रहे हो। उसने पूछा– यह बकरा कौन है? गुरु ने बताया– यह तुम्हार भाई है। इसी तरह उसका लडका भी वह था जो इसका दुश्मन था। यह सब जानकर वह विचार मे पड़ गया। तब उसका विवेक जागा और उसने अहिसा धर्म को अपना लिया।

अहिंसा की खेती में सुखो की फसल उपजेगी

आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर ने अहिसा के महान् धर्म का उपदेश दिया था तथा अहिसामय आचरण का रास्ता बताया था। अभी भी महात्मा गाधी ने देश की स्वतत्रता को प्राप्त करने मे अहिसा का प्रयोग किया। अहिसा का मार्ग सर्वजनहिताय एव सर्वजनसुखाय होता है। पहले दूसरो को सुखी बनाओगे तो स्वय भी सुखी बनोगे। दूसरो को दु ख देने से दु ख रूप परिणाम ही निकलेगा। अहिसा की खेती करने से याद रखे कि सुखो की फसल उपजेगी।

ध्वनि–प्रतिध्वनि की बात मैने ऊपर बताई है। कुए मे या गुफा मे अगर कोई आवाज लगावे कि तेरा बाप चोर है तो बताइये कि वापिस वहा से प्रतिध्वनि क्या फूटेगी? यही न कि तेरा बाप चोर है। तो जिसने जो कहा उसको उसका जवाब मिल गया। खोटा चिन्तन खोटा फल देगा। यह समझ लीजिये कि आपके साथ जो दूसरो का व्यवहार होता है, वह दूसरो का व्यवहार नही, बल्कि वह आपके अपने ही व्यवहार की अनुकृति होती है। भूल से उसे आप सामने वाले का व्यवहार समझ क्रोधित होते है या कि बदला लेने की बात सोचते है। इस सम्बन्ध मे सही तरीके से सोचेगे तो आपको स्पष्ट हो जाएगा कि यह आपकी ही किसी पहले की अशुभ करणी यानी कि हिसक वृत्ति का कुफल है। अत सही तरीका यही है कि दूसरे के बुरे लगने वाले व्यवहार का अनुभव लेकर अपने ही व्यवहार को सुधारने तथा मधुर बनाने का प्रयास करना चाहिये। कवि ने इसे दर्पण का दृष्टान्त देकर समझाया है–

जोड़ोगे हाथ दर्मण को तो दर्मण भी जोडेगा।
चांटा दिखाओगे उसे तो वह भी चाटा दिखाएगा।।
जैसा करोगे वैसा ही फल आगे आएगा... .

दर्पण के इस दृष्टान्त को छोटा वच्चा भी समझ सकता हे। प्रतिध्वनि की तरह ही दर्पण भी आपको अपनी ही वृत्ति दिखाता है। आप हाथ जोडते हैं तो दर्पण मे हाथ जुडते हुए दिखाई देते हैं ओर चाटा मारने के लिये हाथ को उठाव तो दर्पण मे दिखाई दगा कि वही चाटा आपकी ओर आ रहा हे। शिक्षापूर्ण वात यही हे कि यदि आप भविष्य मे अच्छे फल की कामना करते हें तो अभी से शुभ प्रवृत्तियो को अपना लेना चाहिये तथा अपने जीवन को पूर्णतया अहिसक वना लना चाहिय।

कर्म और फल के ज्ञान से जीवन में परिवर्तन

एक बार इस सिद्धान्त को गहराई से समझ लिया जाए कि जैसा कार्य किया जाएगा उसका वैसा फल उसे मिलेगा ही, तो कार्य करते समय पूरी सतर्कता रहेगी कि सारे काम सबको सुख उपजाने वाले ही किये जाए। ऐसी वृत्ति के साथ ही सहानुभूति, सहयोग एव समत्व आदि कई सद्गुणो से जीवन विभूषित बन जाएगा और ज्यो-ज्यो ऐसी वृत्ति का प्रसार होगा व्यक्ति के एव समाज के जीवन मे नये-नये परिवर्तन दिखाई देगे। कर्म और फल का कार्य करते समय ही सही ज्ञान मिल जाए तो ये परिवर्तन तुरन्त और दूरगामी भी हो सकते हैं।

आप जानते होगे कि वाल्मीकि ऋषि होने से पहले एक जबरदस्त डाकू थे। उनके क्षेत्र मे उनका बडा आतक था। जो भी उधर से निकल जाता, बिना लुटे नही जा सकता था। एक बार नारदजी उधर से निकले। साधु होने पर भी वाल्मीकि डाकू ने उनको रोका और अपना माल सौंप देने को कहा। नारदजी ने कहा– मेरे पास तो कुछ नही है, मगर तुम डकैती का जो पाप कर रहे हो– इसका कष्टदायक फल तुमको भुगतना पडेगा। इस पर डाकू ने कहा– मैं दूसरो को लूटता हू तो अपने घरवालो को खिलाता भी हू। वे भी मेरे साथ इस पाप का फल भुगतेगे। नारदजी ने कहा– तुम्हारी समझ गलत है। उनको पूछकर देखो कि क्या वे तुम्हारे पाप मे हिस्सा बटाएगे? वाल्मीकि की दिलचस्पी बढी। वे अपने घरवालो के पास गये और पूछने लगे– मैं दूसरो को लूटकर हिसा और पाप करता हू और तुम सबको खिलाता हू, तुम पाप के फल मे मेरे हिस्सेदार तो रहोगे? यह सुनकर सबने यही कहा– जैसा तुम करोगे वैसा फल तुम भुगतोगे– हम भला तुम्हारे पाप का फल क्यो भुगतेगे? नारदजी खडे ही थे। यह सुनकर वाल्मीकि की चेतना एकदम जागी और उसी समय उन्होने अपने जीवन-क्रम को बदलने का सकल्प ले लिया। डाकू से वे ऋषि बन गये और अपनी भक्ति मे रामकथा के गायक बने।

कर्मवीर बनें, धर्मवीर बने एवं मानव जीवन को सार्थक करें

आज का फल किसी ने आप पर थोपा नहीं है वह आपका ही बोया हुआ है। इस दृष्टि से भाग्य कुछ नही है अथवा कुछ भी है, तो वह सिर्फ आप ही द्वारा बनाया हुआ है। मुख्य है कर्म कि जैसा आप कर्म करते हैं, वैसे ही कर्म का आप बध करते हैं जो उदय मे आने पर आपको उसके अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल देता है।

भविष्य सदा सुखद बने– इस उद्देश्य से आपको कर्मवीर बनना

होगा, धर्मवीर बनना होगा। ससार मे जो भी कार्य करे, वह धार्मिक भावो से ओत–प्रोत होना चाहिये तथा धार्मिक कार्य करे तब भी लोकहित का भाव सर्वोपरि रहना चाहिए। कर्म और धर्म मे वीरता दिखाने वाला ही उन्नति की ऊचाइयो तक पहुचता है तथा ऐसे व्यक्ति ही इस मानव जीवन को सार्थक बनाते हैं। पशु और मनुष्य मे आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की वृत्तिया तो समान हैं किन्तु पशु से मानव मे कोई विशेषता है तो वह है उसके धर्म की, उसके विवेक की। आपको भी यह मानवजन्म मिला है तो उसे पशुवत् नही गवा देना है– उसे सच्चे अर्थो मे मानवता से परिपूर्ण बनाना है।

मानव जीवन की धर्म एव विवेक की विशेषता को अपने हृदय मे उतारे, अपने जीवन मे अपनावे और सच्चे ज्ञान, सच्ची श्रद्धा तथा सच्चे चारित्र का निर्माण करे। अहिसा को अपने विचार एव आचार का मुख्य अग बनाले और इस प्राप्त मानव जीवन को सार्थक करे।



12

अपनी आलोचना के अमूल्य क्षण

श्री मुनि सुव्रत साहिबा,
दीनदयाल देवॉ तणा देव के
हू अपराधी अनादि को, जन्म–जन्म गुना किया भरपूर के।
लूट्या प्राण छ कायना, सेव्या पाप अठार गरूर के।।

परमात्मा के चरणो मे प्रार्थना के माध्यम से आत्मचिन्तन के अमूल्य क्षण उपस्थित हुए हैं। ससार की कलुषित गतिविधियो को देखते हुए जीवन मे पवित्र सस्कारो का पनपना नितान्त आवश्यक है। जब चारो ओर अपवित्रता के सस्कार छाए हुए हो तथा अपवित्र वायुमडल में आत्मा की मलिनता निरन्तर बढती रही हो, तब उसमे पवित्र सस्कार पनपे और मजबूत बने– यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। अपवित्र सस्कार आत्मस्वरूप को दबा देना चाहते हो तो पवित्र सस्कारो को अधिकाधिक सुदृढ बनाने की दिशा मे जागृति फैलानी ही चाहिये। अपवित्र वातावरण मे भी ऐसी दशा मे पवित्रता का सचार होना चाहिये।

पवित्र वातावरण बनाने का सामूहिक प्रभाव

सजग आत्माए ज्यो ही अपने चारो ओर अपवित्र वातावरण को देखती हैं तो उनमे उस अपवित्रता को दूर करके वातावरण मे पवित्रता भरने का एक सकल्प पैदा होता है, क्योकि वे जानती हैं कि अपवित्र वातावरण मे अन्य आत्माओ के पतित बनने के अधिक अवसर सामने आ जाते हैं। जिस प्रकार का वायुमडल होगा उसका जीवन पर वैसा प्रभाव पडे बिना नही रहेगा।

परमात्मा की प्रार्थना शुद्ध हृदयपूर्वक करने से आत्मा का मूल शुद्ध स्वरूप चिन्तन मे लाने से तथा अपने वर्तमान आत्मिक स्वरूप को ध्यान मे गुजारने से अपने भीतर एक पवित्रता के भाव का उदय होता हे। फिर निरन्तर प्रार्थना करने से पवित्रता के इस भाव की पुष्टि होती है तथा अपनी आलोचना

करते रहने का स्वस्थ अभ्यास बनता है। इस तरह आत्मालोचन करना जीवन का अग बन जाता है। इस वृत्ति के द्वारा अपवित्रता की प्रवृत्तिया दूर होती हैं और पवित्रता के सस्कारो को पनपाते रहने की दृष्टि सजग बनती है।

अपने भीतर की पवित्रता की झलक तब बाहर प्रकट हुए बिना नही रहती है तथा ऐसी आत्मिक पवित्रता अवश्य ही औरो को प्रभावित करती है। यह प्रभाव ठोस होता है। आप कुछ कहे– उसका प्रभाव दूसरो पर पडे या नही पडे, लेकिन आप जो करेगे, उसका प्रभाव दूसरो पर जरूर क्रियात्मक रूप मे पडेगा। आपके पवित्र सस्कार अपने आस–पास वालो पर पडेगे और वे भी उन सस्कारो को ग्रहण करना प्रारभ कर देगे।

आत्मिक सस्कारो की पवित्रता मे एक अनोखे प्रकार का तेज होता है और वह तेज जब अन्य आत्माओ मे समा जाता है तो वे भी उस दिशा मे मुड जाती हैं। इस प्रकार पवित्र वातावरण की सृष्टि होती है। जो अपने अन्दर पवित्रता का सचार करके वातावरण को पवित्र बनाने का सत्प्रयास करते हैं, उनका निश्चय ही सामूहिक प्रभाव बनता है।

नित्यप्रति अपनी आलोचना करने से पवित्र वातावरण

परमात्मा की प्रार्थना इसीलिये सशक्त माध्यम मानी गई है कि इसके जरिये परमात्मा का परम पवित्र स्वरूप हमारे ध्यान मे आता है ओर उस स्वरूप की तुलना मे स्वत ही हमारी आत्मा का वर्तमान स्वरूप स्पष्ट बन जाता है। फिर दोनो स्वरूपो के बीच मे जो अन्तर दिखाई देता है, वह हमारी अन्तश्चेतना को झकझोरता है कि परमात्म–स्वरूप की तुलना मे हम कहा खडे है? यह अन्तर फिर हमारे मन–मस्तिष्क मे चक्कर काटता रहता है और हमे जगाता रहता है कि इस अन्तर को दूर किया जाए। तब उस अन्तर को घटाते रहने की सक्रियता जाग्रत् बनती हे। हम सोचते हे कि पहले तो इस अन्तर का चित्र हमारे सामने स्पष्ट रहे तथा दूसरे उस स्पष्टता के साथ हमारे विचार एव आचार का क्रम वैसा बने कि यह अन्तर निरन्तर घटता हुआ चले। प्रार्थना के माध्यम से यह क्रम पुष्ट होता रहता हे और नित्यप्रति हमारी सजगता की पुष्टि होती रहती है।

सजगता की इस पुष्टि का रहस्य ही इस तथ्य मे छिपा हुआ होता हे कि हम नित्यप्रति अपनी आलोचना करते रहे– अपनी रोज की वृत्तियो एव प्रवृत्तियो का मूल्याकन करते रहे। अपनी आलोचना करने का अर्थ है कि अपने प्रत्येक विचार प्रत्येक वचन एव प्रत्येक व्यवहार की आलोचना करना तथा आन्तरिक पवित्रता की दृष्टि से उन्हे कसोटी पर चढाना। प्रतिदिन की

यह कसौटी अपनी दृष्टि को बाहर के झूठे आकर्षणो से हटाकर अन्तर्मुखी बना देती है एव प्रतिक्षण यही भावना जाग्रत् बनी रहती है कि कल की कसौटी से आज की कसौटी ऊपर ही चढनी चाहिये। कल की कसौटी से आज की कसोटी नीचे उतर जाए यह तो सहन हो ही नही सकता है।

अच्छे विचार एव अच्छे सस्कार इस अभ्यास से जीवन के अग बन जाते हैं तो निरन्तर अच्छे विचारो का प्रवाह मन और मस्तिष्क मे बहता हे। यह प्रवाह अपने जीवन मे एक ओर निरन्तर पवित्रता बनाये रखता है, तो दूसरी ओर वातावरण मे भी पवित्रता का सचार करता है।

सजग आत्मालोचना से पवित्रता का सचार

सजग आत्मालोचना से जब चौबीसो घटे पवित्रता का सचार होता है तो फिर उस जीवन का उत्थानगामी बनना कठिन नही रह जाता हे। चौबीसो घटे पवित्रता की धारा मनुष्य के मन मे बहने लग जाए तो फिर कहना ही क्या?, वैसी पवित्रता तो देवोपम बनती हुई परमात्म–स्वरूप के निकट आगे बढाने वाली होती है तथा ससार को भी आत्मिक उन्नति का नया प्रकाश प्रदान करने वाली होती है।

किन्तु जो आत्माए चौबीसो घटे एक-सी पवित्रता मे रमण करती रहने मे सक्षम नही हैं, उनमे भी आत्मालोचना का क्रम यथासाध्य सजग बना रहे तो धीरे– धीरे ही सही पवित्रता के सस्कारो मे वृद्धि अवश्य होती रहती है। चौबीस घटो मे जितना अधिक समय निकल सके इन आत्माओ को पवित्रता की साधना मे अपना मन लगाना चाहिये। यह मन भी तभी लग सकेगा, जब अपनी आलोचना करते रहने का क्रम बना रहेगा। अपने अन्दर बराबर देखते रहने से अपना स्वरूप विकृत बनने से बचाया जा सकेगा तथा स्वरूप विकृति मे सद्रूप आवे– इसका भी ध्यान रह सकेगा।

जैसे जीवन–निर्वाह के लिये भोजन आवश्यक है और प्रतिदिन मनुष्य भोजन करता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप की पवित्रता के निर्वाह के लिये अपनी आलोचना उतनी ही आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य भोजन करने तथा भोजन अर्जन करने के लिये किसी भी तरह समय निकालता ही है क्योकि वह जानता है कि यदि ऐसा नही किया गया तो जीना ही कठिन हो जाएगा। तो ध्यान रखने की बात यह है कि शरीर के जीवन से भी आत्मा का जीवन अधिक मूल्यवान तथा अधिक आवश्यक होता हे। आत्मा के जीवन का अभिप्राय यह हे कि आत्मा के सद्गुणो की रक्षा तथा वृद्धि की चेष्टा नित्यप्रति बनी रहे। इस कार्य के लिये प्रतिदिन प्रत्येक मनुष्य को अधिकतम समय

निकालना ही चाहिये। समय पर ठीक भोजन कर लेने से शारीरिक शक्ति व स्फूर्ति बराबर क्रियाशील बनी रहती है, उसी प्रकार सजग आत्मालोचना से आत्मिक शक्ति प्रकट होने की राह खोजती हे तथा जीवन को आत्मिक साधना मे निमग्न बनाती है। इससे बुरी प्रवृत्तिया घटती हैं ओर अच्छी प्रवृत्तिया बढती हैं जिनके कारण सर्वत्र पवित्रता का सचार होता हे।

खुला अन्तःकरण : सच्ची आत्मालोचना

अन्त करण मे से जब अपवित्रता हटती हे ओर उसमे से सकोच तथा अनुदारता के सस्कार मिटते हैं, तब सच्ची आत्मालोचना का भाव जागता हे। ऐसे भाव को जगाने के लिये जहा प्रार्थना का माध्यम सफल बनता है तो वहा सन्त–समागम तथा वाणी–श्रवण भी उसी रूप मे महत्त्वपूर्ण होता हे। सन्त–सतियो के व्याख्यान का जहा भी प्रसग हो, एक आत्मार्थी को उस अवसर का लाभ लेना चाहिये– प्रभु के वचनो को, निर्वचनो को अपने जीवन से सबधित करते हुए अपने अन्त करण के अनुताप को अभिव्यक्त करना ही चाहिये।

अपनी ही आलोचना करना आसान कार्य नही होता तथा सच्ची आलोचना को बाहर दूसरो पर प्रकट कर देना तो और भी कठिन कार्य है। सामान्य रूप से कोई दूसरा अपनी सच्ची आलोचना करे, तब भी वह सहन नही होती है। कई–कई भाई तो सहनशीलता से इतने दूर होते हैं कि आलोचना सुनते ही उत्तेजित हो जाते है। अत अपनी आलोचना करने और उसे सार्वजनिक रूप से प्रकट करने के लिये मनोदशा को सहनशीलता का नया मोड देना होगा। ऐसा विवेक जब प्रखर बनेगा, तभी जीवन मे किये गये अपराधो को स्वीकार करने की शक्ति प्राप्त हो सकेगी। जो अपने अपराधो को स्वीकार कर लेता है, उसका अन्त करण खुल जाता है, उदार बन जाता है। खुला अन्त करण होने से आत्मालोचना सच्ची बनती है तथा अपराधो को धो डालने की चेष्टा सक्रिय हो जाती है।

किसी के कहने से नही, किसी के दबाव से नही, लेकिन स्वय के अन्त करण से जब स्वय के अन्त करण को देखने की तथा निरन्तर देखते रहने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तो वह आत्मा प्रभु के चरणो मे अपने कैसे भी अपराध को स्पष्ट निवेदन करने मे कभी भी सकोच नही करती है। उस आत्मा को अपनी आलोचना करते समय जब भी ऐसा लगता है कि किसी भी छोर से वह मलिनता से युक्त बन रही है तो उस मलिनता को स्वीकार करके उसे धो डालने मे वह तुरन्त ही सचेष्ट हो जाती है।

दुनिया कुछ भी कहे– आत्मा की पवित्रता ही अभीष्ट

एक सच्चे आत्मालोचक को इस बात की कभी चिन्ता नही होती है कि उसके द्वारा अपने किसी अपराध या दोष को प्रकट कर देने पर दुनिया उसके बारे मे क्या कहेगी? उसकी दृष्टि आत्माभिमुखी होती है ओर वह यही सोचता हे कि जो अपराध या दोष उससे हो गया हैं, वह उसे इस तरह धो–पौंछ डाले कि आत्म–पटल पर उस धब्बे का कोई निशान तक न रह जाए। उसकी दृष्टि मे आत्मा की पवित्रता ही प्रधान लक्ष्य के रूप मे सामने रहती है।

एक स्वच्छता-प्रेमी के कपडे, समझे कि किसी चिकास से मलिन हो गये तो उसका ध्यान पहले उस ओर नही जाएगा कि उस चिकास को देखकर दुनिया क्या कहेगी बल्कि उसे अपने वस्त्र का ध्यान आयेगा और यह ध्यान आयेगा कि चिकास को जल्दी नही हटाया तो चीटिया तग करेगी या मैल से शरीर को हानि पहुचेगी। उसी प्रकार अपनी आलोचना करने वाली प्रबुद्ध आत्मा सबसे पहले अपराध या दोष की मलिनता को इसलिये धो डालना चाहती है कि वह दूसरी मलिनता को आकर्षित करेगी और वह असावधान रही तो मलिनता इतनी बढ जाएगी जो आसानी से नही धुल सकेगी। जीवन के धब्बे, जीवन का चिकास आत्मा को मलिन बनाता हैं और एक प्रबुद्ध आत्मा उनको धोने मे कभी विलम्ब नही करेगी। उन पापो को पश्चात्ताप के साथ वह प्रभु के चरणो मे रख देगी। वह यह नही सोचेगी कि उन पापो के प्रकट हो जाने पर लोग क्या कहेगे? अन्त करण मे पाप और पाप को छिपाने की जब कुटिलता नहीं होती है तो यह विचार भी पैदा नही होता है कि पापो के प्रकट होने से उसकी प्रतिष्ठा गिरेगी। वह आत्मा तो यही सोचेगी कि कितना भी भारी अपराध हो उसको जल्दी-से-जल्दी प्रभु के चरणो मे रख दू और अपने अन्त करण को पुन पवित्र बना दू। सबसे ऊपर आत्मा की पवित्रता ही उसे अभीष्ट होती है।

आत्मालोचना के अमूल्य क्षणों में कितनी सरलता और कितनी तरलता?

आत्मालोचना के अमूल्य क्षणो मे जब कोई अन्तर्मग्न होता है तो उस समय आत्मा का स्वरूप कितना सरल और कितना तरल बन जाता है– यह अनुभूति का ही विषय होता है। अपने पापो को नि सकोच प्रभु के चरणो मे रख देने, पापो को धो डालने तथा पवित्रता को पुन सचारित कर देने के अपूर्व आनन्द का रसास्वादन अनुभव से ही जाना जा सकता हे। आत्मशुद्धि की उस समय एक अद्भुत ललक होती है। इस ललक को ही कवि ने अपनी

काव्यमय भावनाओ मे व्यक्त किया है–

हूँ अपराधी अनादि को,
जनम–जनम गुनाह किया भरपूर के।
लूटिया प्राण छ कायना,
सेविया पाप अठार गरूर के।।
श्री मुनि सुव्रत साहिबा

अपनी आलोचना के अमूल्य क्षण जब जागते है तो एक प्रबुद्ध आत्मा कहती है– हे मुनि सुव्रत प्रभु, मै तो अनादि काल से अपराधी बनी हुई हूँ तथा हर जन्म मे भरपूर गुनाह करती रही हूँ। और ये अपराध मामूली नही हैं– छ काया के मूक प्राणियो के प्राणो का मे हरण करती रही हू एव अठारह पापो का घमड के साथ सेवन करती रही हू। मै अपराधी हूँ।

तब उन अमूल्य क्षणो मे 'मै' का बोध होता है– आत्मा का बोध होता है। आत्मा जागती है, अपने अपराधो पर एक नजर डालती है और उन्हे धो लेने का सकल्प कर लेती है। ऐसी जागृति ही आत्मालोचना का उद्देश्य होता है। आत्मा अपने स्वरूप पर लगे आच्छादनो को एक–एक करके हटाती चलती है ओर गुण–ग्राहकता के साथ अपने स्वरूप को निखारती रहती है।

आत्मस्वरूप पर जो आच्छादन आते हैं– वे पाप के कर्मबध के आच्छादन होते हें जो स्वय आत्मा अपनी असावधानी एव पापवृत्ति मे चढाती है। यह उसका भारी अपराध होता है। अपनी आलोचना मे जब वह इसी अपराध का परिमार्जन करती है तो उसमे अनोखी सरलता एव तरलता आ जाती हे।

अपराध प्राणहनन व पाप–सेवन का और पवित्रता आलोचना की

परमात्म–स्वरूप मे आस्था रखकर जो प्राणहनन एव पाप-सेवन के अपराध को समझ लेते हें स्वीकार कर लेते है तथा उनका शुद्ध हृदय से परिमार्जन कर लेते हें, वे निश्चय ही आलोचना की सजग प्रवृत्ति से अपनी आत्मा को पवित्र वना लेते हें– सस्कारो को उन्नतिशील बना लेते है। जो अपने भीतर नही झाकता, अपने-आप को देखने का अभ्यास नही बनाता एव अपने स्वरूप को पवित्र बनाने की चेष्टा नही करता, वह अपने जीवन को उत्थानगामी नही वना सकता हे।

इसलिये महावीर प्रभु ने कहा हे कि पाप से घृणा करो। जव आत्मा पाप से घृणा करेगी, तव ही पाप से मुक्त हो सकेगी। आत्मा जब पाप को हेय समझेगी तभी उसको त्यागने का निश्चय करेगी। किसी व्यक्ति को कोई

कहे– देखो यह कूडा–करकट पडा है किन्तु इसी मे एक रत्न भी दबा हुआ हे तो वह व्यक्ति रत्न लेगा या कूड़े–करकट को भी अपनी बाह मे भर लेगा? वह कूडे–करकट से नफरत करेगा, उसको जल्दी–जल्दी दूर हटायेगा और रत्न को ले लेगा। ऐसी ही सावधानी आत्मालोचना के समय मे रहनी चाहिये कि वह प्राणहनन तथा पाप–सेवन के अपराध रूपी कूडे–कचरे से नफरत करे, उसको जल्दी दूर हटावे और आत्मा के मूल स्वभाव रूपी रत्न को प्राप्त करले। ऐसी शक्ति तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य अपने-आप को ढूढे और अपने-आप को प्राप्त करले। अन्त करण की झलक मिल गई तो परमात्म–स्वरूप का प्रकाश फिर अनचीन्हा नही रहेगा। जैसे लुहार एक लौह-खड पर हथौडे की चोटो से लोहे को तोडता रहता है एक भूगर्भवेत्ता पानी या खनिज की खोज मे जमीन को खोदता रहता है और अपने प्रयत्न से निराश नहीं होता तो उसका प्राप्य उसे मिलता है। उसी प्रकार एक सच्चा आत्मालोचक अपने आत्मस्वरूप को खोजने, पाने तथा निखारने के काम मे कभी भी निराश नही होता है। वह उस पुरुषार्थ मे जुटा रहता है तो एक दिन अपने लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त करता है। अपनी आलोचना की पवित्रता उसकी आत्मा को समग्र रूप से पवित्र बना ही लेती है।

सतत आलोचना : सतत पुरुषार्थ जीवन का त्वरित विकास

आत्मपटल पर आलोचना का हथौडा तथा पुरुषार्थ की कुदाली सतत रूप से चलती रहेगी तो गहराई तक पहुचने मे कठिनाई नही आएगी। आत्मा की खोज जितनी गहरी होगी, उतनी ही वह सचेतक बनेगी। इससे जीवन का त्वरित विकास सभव हो सकेगा।

आत्मालोचना की अमृतधारा जब-जब जीवन मे बहने लगती है तो अन्त करण की तरलता मे मनुष्य हर्षविभोर हो उठता है। कभी–कभी ऐसा प्रयास एक जन्म नही, कई जन्मो तक भी करना पडता हे, किन्तु प्रयास निरन्तर चलता रहा तो अपराध हटेगे ओर आत्मा मे अन्ततोगत्वा पवित्रता का सचार होगा ही। इसलिये सतत आलोचना एव सतत पुरुषार्थ को अपने जीवन के अग बना लेने चाहिये।

*****



शुभ भावों की सुरक्षा

सुज्ञानी जीवा, भजलो जिन इक्कीसवा
भजन किया भव–भव ना दुष्कृत, दुःख दुर्भाग मिट जावे।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्गति निकट न आवे।।
जीवादिक नव तत्त्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझीजे।
तीजो उपादेय ओलख ने, समकित निर्मल कीजे।।
सुज्ञानी जीवा

परमात्मा की प्रार्थना करने से जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व का चिन्तन किया जा रहा है। यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व अपेक्षा की दृष्टि से पुण्य है। पुण्य के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नही बन पाती है। किसी भी अवस्था मे मनुष्य हो, किन्तु उस अवस्था मे यदि पुण्य का फल उसका साथ देता है तो जीवन मे उसके सुख और शाति बनी रहती है। यदि पुण्यफल की कमी है तो वह हर क्षेत्र मे दुःख और दुर्भाग्य का कटु अनुभव करता है। हताशा से खिन्न होकर वह अपने जीवन के प्रति उपेक्षित-सा हो जाता है।

पुण्य-तत्त्व का महत्त्व : सहयोगी साधनों का स्रोत

कभी प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष–तत्त्व अति महत्वपूर्ण हे और जीव–तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण है, फिर पुण्य–तत्त्व को अपेक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्यो कहा जा रहा हे? इसका स्वाभाविक उत्तर यह हे कि यद्यपि जीव–तत्त्व महत्त्वपूर्ण हे, मोक्ष–तत्त्व अति महत्त्वपूर्ण हे, किन्तु मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करने के लिये तथा जीव–तत्त्व को कार्य–सक्षम बनाने के लिये सहयोगी साधनो का सुयोग न बने तो क्या जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता हे? सहयोगी साधनो का स्रोत होता है पुण्य–तत्त्व, जिसके उदय से अपने चारो ओर ऐसे साधन जुट जाते हें तथा ऐसा वातावरण बन जाता हे कि जीव के लिये मोक्ष की दिशा मे अग्रसर होना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। सुख ओर शान्ति को प्राप्त करने के लिये पुण्य का योगदान अन्य तत्त्वो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता हे।

आप स्पष्ट रूप से समझ ले कि जिस पुण्य की व्याख्या आपके समक्ष चल रही है उसमे इस शरीर को भी पुण्य मे लिया है तथा इसका मिलना पुण्य का फल माना गया है। जिन सारी अवस्थाओ के बीच यह शरीर मिला है, उससे उसका महत्त्व और अधिक बढ जाता है। शरीर भी मानव का– आर्यभूमि का शरीर और उस को सत्सग तथा सत्–श्रद्धा का सुयोग– इन सबका साथ मे मिलना पुण्य के उदय से ही हुआ है। ऐसे सहयोगी साधनो के मिलने पर ही आत्मविकास का मार्ग सहज बनता है। इस कारण अपेक्षा दृष्टि से ही पुण्यतत्त्व को अन्य तत्त्वो की तुलना मे महत्त्वपूर्ण बताया गया है। ऐसे पुण्यतत्त्व की उपलब्धि कैसे की जा सकती है, इस विषय मे शास्त्रकारो ने विभिन्न विधियो का निर्देश दिया है।

शुभ भावो के प्राधान्य से पुण्य–कर्म का बंध

स्थानाग सूत्र मे नौ प्रकार के पुण्यो का कथन करते हुए शास्त्रकारो ने अन्न, पान, स्थान आदि पुण्य बताये हैं। यह कथन द्रव्य की अपेक्षा से द्रव्य–सापेक्ष है कि किसी के पास ये साधन उपलब्ध हैं तो उनके माध्यम से पुण्य का सचय किया जा सकता है। पानी की सुविधा है तो उसके विनियोग से भी पुण्य का सम्पादन किया जा सकता है। मकान की सुविधा है तो उसे भी पुण्य कार्य मे लगा सकते हैं। शया, वस्त्र आदि की सुविधा भी जुटा कर पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है। किन्तु ये सुविधाए किसी के पास उपलब्ध हो तथा अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो तभी पुण्यकार्य का योग बनता है। ऐसी स्थिति सबके लिये शक्य नहीं होती है। जिन व्यक्तियो के पास ये सुविधाए उपलब्ध नही हैं, बल्कि अपने जीवन–निर्वाह की दृष्टि से जो इन सुविधाओ की अभिलाषा रखते हैं– प्रश्न है कि क्या वे पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं?

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। यदि यही उत्तर हो कि इन सुविधाओ के सिवाय पुण्य–उपार्जन के अन्य साधन हैं ही नहीं तो फिर यह पुण्य की शक्ति चन्द हाथो का खिलौना बन कर ही रह जाएगी। सभी आत्माओ के लिये तो फिर पुण्यतत्त्व ग्राह्य बन ही नहीं सकेगा। किन्तु इस सम्बन्ध मे शास्त्रकारो ने स्पष्ट सकेत दिये हैं, जिनके आधार पर यह निर्णय दिया जा सकता है कि ये साधन एव सुविधाए मात्र ही पुण्योपार्जन के निमित्त नही हैं। इन साधनो के अतिरिक्त भी प्रत्येक आत्मा के पास महत्त्वपूर्ण साधन उपलब्ध है, जिनके द्वारा पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है।

प्रत्येक आत्मा के पास उपलब्ध साधन हैं शुभ भाव और शुभ भावो

का सचालक मन। यदि मन मे शुभ भावो का प्राधान्य बन जाए तो अन्य साधनो से भी अधिक उच्च श्रेणी के पुण्यकर्मो का बध हो सकता है।

शुभ भावों की प्रवाह–धारा तथा मन की गतिविधि

आत्मा के साथ मन उपलब्ध होता है। मन चिन्तन करने का एक माध्यम है, चिन्तन करने की एक शक्ति है। साधना करने वाली आत्मा भाव–मन की सहायता से द्रव्य–मन को सगठित करती है। द्रव्य–मन शरीर के प्रत्येक अवयव मे रहा हुआ होता है और उसी के माध्यम से प्रत्येक प्रकार के सुख–दु ख का अनुभव किया जाता है। श्रेष्ठ मन की प्राप्ति भी प्रबल पुण्य का फल होती है। इस दृष्टि से द्रव्य मन जितना व्यवस्थित सुसस्कारित एव केन्द्रित होगा, उतनी ही वह आत्मा साधना–पथ पर द्रुतगति से आगे बढ़ सकेगी। द्रव्य–मन की स्थिति यदि भव्य प्रकार की है तो उसके माध्यम से अन्न आदि साधनो को पर्याप्त मात्रा मे जुटा सकते है। वे साधन, जो चन्द लोगों को प्राप्त होते हैं और दूसरो को नही होते– इस स्थिति के पीछे भी पूर्व–जन्म के कर्मो का सयोग ही मानना होगा। किन्तु इस सयोग का लाभ भी तभी होता है, जब मन की गतिविधि अनुकूल हो। मन की गतिविधि यदि ठीक न हो तो करोडो की सम्पत्ति तथा अन्न, पान आदि की प्रचुर सुविधाए प्राप्त होने पर भी पुण्य कमाने की प्रवृत्ति पैदा नही होती है।

इस दृष्टि से मन की गतिविधि प्राप्त सयोग–सुविधाओ का सदुपयोग करने तथा पुण्यवानी कमाने के अनुकूल बननी चाहिये और इस अनुकूलता का उपाय यह है कि मन मे स्थायी रूप से शुभ भावो की प्रवाह–धारा बहने लगे। इसके लिये मन को साधने की आवश्यकता होती है कि शुभ भावो की प्रवाह–धारा प्रारम्भ होने के बाद निर्बाध रूप से बहती भी रहे।

यह आप जानते है कि मन की गति अतीव चचल होती है। गति जितनी चचल हो, उसका नियत्रण उतना ही कठिन होता है– यह एक अनुभूत सत्य है। यही कारण है कि मन को नियत्रित, सुव्यवस्थित एव अपने उद्देश्य के प्रति केन्द्रित बनाने काम अभ्यास एव लगन के साथ ही साधा जा सकता है। अशुभ भाव बार–बार मन पर आक्रमण करते है और मन उनमे उलझ–उलझ कर मलिनता एकत्रित कर लेता है, इस वास्ते अभ्यास करना पडता है कि अशुभ भाव मन पर प्रभाव न डाले और न ही वचन और काया की प्रवृत्तियो को बिगाडे। अशुभ भावो पर रोक लगाने के साथ शुभ भावो का मन मे उदय होगा तब वे भाव मन वचन एव काया के समस्त

योग–व्यापार को प्रभावित करेगे। इससे मन की गतिविधि शुभ भावो के प्रवाह मे ही सचालित होने लगेगी और प्राप्त साधन एव शुभ भाव दोनो पुण्य का उपार्जन करने की दृष्टि से सशक्त साधन बन जायेगे।

शुभ भावों की सुरक्षा से स्वावलम्बन एवं पुण्य का उपार्जन

आपको दो प्रकार के व्यक्ति संसार मे दिखाई देते है। एक तो वे, जिन्हे पिता से कोई थाती प्राप्त नही होती माता की कुक्षि से बाहर आये कि माता का सरक्षण भी हट जाता है और जैसे–तैसे उनका पालन–पोषण होता है, फिर भी बडे होकर वे अपने निज के पुरुषार्थ बल से अपने जीवन का स्वयं निर्माण करते हैं तथा उन्नति के ऊपरी छोर तक पहुच जाते हैं। दूसरे वे लोग होते हैं, जिन्हे पिता की अपार सम्पत्ति उत्तराधिकार मे मिलती है, जिन्हे माता का लाड–प्यार तथा सुख का पालन–पोषण मिलता है लेकिन जो बडे होकर उस सम्पत्ति को भी नष्ट कर देते है तथा अपने जीवन को दु खभरा, विकृत एव निकृष्ट बना लेते हैं। दोनो प्रकार के व्यक्तियो के बीच मे उपलब्ध साधनो का ऐसा अन्तर होते हुए भी उसका परिणाम उनके जीवन मे किस विचित्र रूप से प्रकट होता है। ऐसा क्यो होता है?

इसका सरल उत्तर यह हो सकता है कि यह दोनो की पुण्यवानी का अन्तर है, किन्तु ऐसा हो भी सकता है तथा नही भी होता है। बहुधा यह मन की गति का परिणाम भी हो सकता है। मन द्रव्य–पुण्य का फल होता है एव द्रव्य–मन की पुण्यवानी से कई साधनो की उपलब्धि होती है। जो प्राप्त सस्कारो से तथा अपने शुभ भावो के प्रभाव से अपने मन को नियन्त्रित कर लेते है, वे सहज ही मे साधनो को भी प्राप्त कर लेते हैं। ये शुभ भाव होते है स्वावलम्बन के। दूसरो का आश्रय ढूढने की अपेक्षा जो अपना ही आश्रय खोजते है, वे अपने जीवन का स्वत ही सुन्दर निर्माण कर लेते हैं।

स्वावलम्बी वे ही बनते हैं तथा उस स्वावलम्बन से पुण्यो का उपार्जन वे ही कर सकते हैं, जो शुभ भावों की मन के निग्रह से भलीभाति सुरक्षा कर लेते हैं। मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण होता है और मन को यदि सुव्यवस्थित बना लिया तो पुण्यवानी का सचय सरल बन जाता है। शुभ भावो से सुरक्षित मन को आप कल्पवृक्ष की उपमा दे सकते हैं कि कल्पवृक्ष से आप जेसे– जो चाहे, प्राप्त कर सकते हैं, उसी प्रकार सधे हुए मन से कोई भी मनोरथ अप्राप्य नहीं रहता है।

प्रत्येक मनुष्य के पास मन की अपूर्व थाती

प्रत्येक मनुष्य के पास मन की अपूर्व थाती विद्यमान हे। यह उसकी बपौती है। इसमे किसी का हिस्सा नही है– इसको कोई लूट–खसोट नहीं सकता। मन को लूटने वाली स्वय आत्मा ही हो सकती हे, जो ससार के झूठे पौद्गलिक सुख कें पीछे मन को नष्ट–भ्रष्ट कर डालती हे। वापिस मन को सवारना– यह भी आत्मा की ही प्रेरणा होती हे। यदि आत्मा का विवेक जाग्रत् हो जाता है तथा वह मन को सुव्यवस्थित बनाने की विवेक–बुद्धि बना लेती है तो उस मनोबल से पुण्यो का उपार्जन भी हो सकता हे तथा उन पुण्यो से उपार्जित साधन–सुविधाओ का स्वेच्छा से त्याग भी सभव बन जाता है। मन ही बाधता है और मन ही बन्धनो से छुडाता है। जो अन्तर है, वह आत्मा के मन पर होने वाले नियत्रण का हे। इसलिये शास्त्रकारो ने मन को भी पुण्य का भेद बताया है अर्थात् मन से भी शुभ भावो के द्वारा पुण्य का सचय किया जा सकता है।

मन से पुण्य का सचय किस प्रकार होता है? मनुष्य यदि अपने मन मे शुभ भावना लाता है, सत्सग के प्रसग से अच्छी शिक्षाए सुनता है और ध्यान से उन पर अपने मन का योग लगाता है तो उनके अनुसार निश्चित रूप से पुण्य का सचय भी होता है तथा मनोभावना की उच्चतर श्रेणियो मे आत्मशुद्धि एव कर्मो की निर्जरा भी बनती है।

शरीर की स्थिति और मन की स्थिति मे भी कई बार बडा अन्तर देखने को मिलता है। एक व्यक्ति शरीर से मुनि के प्रवचन मे बैठा हुआ है, किन्तु उसका मन विषय–विकारो मे चक्कर लगा रहा है तो वह अपनी पापपूर्ण कल्पनाओ मे डूब जाता है तथा शरीर की स्थिति निरर्थक बन जाती है। उन पापपूर्ण कल्पनाओ की स्थिति मे भी यदि आत्मा का तेज चाबुक मन के लग जाता है तो भाव–धारा फिर से पलटा खा सकती है। उस समय पश्चात्ताप का भाव उदय होता है और विचारश्रेणी बदल जाती है। तब मन का पुन वाणी–श्रवण मे स्थिरीकरण हो जाता है। मन की इस अपूर्व थाती को स्वावलम्बी पुरुष आत्मोत्थान के मार्ग पर नियोजित करता है तथा अपने लक्ष्य को साध लेता है।

मन की इस थाती के प्रहरी होते हैं– शुभ भाव

मन की इस अपूर्व थाती के रक्षक–प्रहरी होते है– शुभ भाव। नियंत्रण की डोरी मजबूती से पकड कर मन मे शुभ भावो को जगाये रखो– उसे शुभ कामो मे व्यस्त बनाओ तो वैसे मन की शक्ति से बडी-से-बडी सिद्धि

भी प्राप्त कर सकते हो। शुभ भाव टूटते हैं तो अशुभ भावो के झझावात मे आत्म–स्वरूप बिगडता हे ओर मन अनियत्रित बन जाता है। इसलिये ज्ञानियो ने कहा हे कि शुभ भावो की धारा को स्थायी बना कर मन की इस थाती से आत्म–सम्पत्ति को अभिवृद्ध बनावे। मन–पुण्य से पुण्य का उपार्जन होता हे। भले ही, बाहरी पदार्थ पास मे हो या नही, मन–पुण्य से न तो बाहरी पदार्थों की कमी रहती है तथा न ही भीतरी जागृति दबी हुई रहती है।

मन की गतिविधि के सम्बन्ध मे ज्ञाता कथाग सूत्र मे मयूरी के अडो का एक दृष्टान्त आता हे। दो मित्र वन मे भ्रमण करने को गये। वहा एक सुन्दर मयूरी नाच रही थी– उसे देख कर वे इतने प्रफुल्लित हुए कि वे अपने घर मे मयूरी लाने की कल्पना करने लगे। दोनो ने चर्चा की तो इस निर्णय पर पहुचे कि कही से मयूरी का अडा मिल जाए तो मयूरी अपने ही घर मे पैदा हो जाएगी और घर मे सदा उसका सुन्दर नाच देखने को मिल सकेगा। दोनो इधर–उधर अडो की तालाश करने लगे। एक जगह उनको दो अडे दिखाई दिये– एक–एक अडा दोनो ने ले लिया और घर की ओर चल दिये।

एक मित्र बड़े चचल मन वाला था। घर जाकर वह बार–बार अडे को हिलाने लगा कि उसमे मयूरी का बच्चा हे या नही। हिलाने से गाढा द्रव्य पतला हो गया और एक दिन वह अडा फूट गया। उसने सोचा कि मित्र ने अडे से बच्चा निकलने की बात गलत बताई है। वह दूसरे मित्र के घर पहुँचा। वहा उसने देखा कि एक सुन्दर मयूरी का बच्चा नाच रहा था। उसे आश्चर्य हुआ। तब मित्र ने समझाया कि तुम्हारे चचल मन ने बच्चे को नष्ट कर दिया। मैंने बडे धैर्य से और विवेक से अडे का पोषण किया तो मुझे बच्चा मिल गया।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि नियत्रित मन शुभ फल का दाता होता हे, जबकि चचल मन फल को भी नष्ट कर देता है और करणी को भी। शुभ भावो से सत्कर्म करिये किन्तु फल को पाने की उतावली न रखे। कार्य श्रेष्ठ विधि से होता है तो उसका सुफल स्वत ही प्राप्त हो जाता है– उसकी कामना करके व्यर्थ ही मन के परिणामो को चचल नहीं बनाना चाहिये। शुभ भावो की सुरक्षा मे मन को सदा सुव्यवस्थित बनाये रखना चाहिये।

शुभ भावो की लगाम से मन के घोड़े को बांधे रखो!

आप यह देखिये कि मेरा मन सही रास्ते पर जा रहा है या गलत रास्ते पर? इसकी जाच करने मे ज्यो ही आपको लगे कि मन अशुभ भावो मे डूब रहा है तो झट से उसे शुभ भावो के प्रवाह मे खींच लीजिये। मन को एक उद्दण्ड घोडा मान कर उसके मुख मे अपने शुभ भावो की लगाम लगा दीजिये

ताकि ज्यो ही वह अशुभ भावो की जहरीली घास मे मुह मारने के लिये इधर–उधर हो कि उसकी लगाम को खीच ले। ज्यो–ज्यो यह अभ्यास मजबूत बन जाएगा, आत्मा और मन दोनो एक-दूसरे के निकट रह कर फिर शुभ भावो मे ही रमण करने के अभ्यस्त बन जायेगे।

मन के नियत्रण का अर्थ मन को रोक कर खडा करना नही है। मन को गतिशील तो बनाये रखना है किन्तु नियत्रण से। अभिप्राय यह है कि उसकी गति शुभ भावो की दिशा मे हो। मन को रोकने की कोशिश मत करो, वह तो दौडता ही रहना चाहिये। एक अच्छा सवार कैसा घोडा पसन्द करेगा– मरियल और गधे की तरह अडियल अथवा तेज-तर्रार दौडने वाला? घोडा तो तेज-तर्रार ही हो, मगर उसकी लगाम मजबूत हो और सवार उसे मजबूती से पकड कर रखे। फिर दूर की मजिल भी उसकी तेज चाल से आसान बन जाएगी। लगाम को भी काम मे तभी ले, जब घोडा रास्ते से हट रहा हो। मन इस तरह सही रास्ते पर चलना सीख गया तो वह आत्मविकास के लिये अति हितावह हो जाएगा।

शुभ भावों से भरा मन, तो शुभ विनियोग, शुभ उपयोग

मन रूपी घोडे पर ज्ञानपूर्ण शुभ भावो की लगाम लगा कर उसे रास्ते पर चला दे तो वह मजिल तक जरूर पहुचेगा। सच्चे ज्ञान, सच्ची श्रद्धा तथा सच्चे चारित्र की एकाग्रता से आराधना करते हुए उस मन को मोक्ष का लक्ष्य प्रिय बन जाएगा।

स्वाध्याय के माध्यम से शुभ भावो को जगाइये, प्रार्थना के अभ्यास से मन को सदा शुभ भावो मे रमण करना सिखाइये और अवसर पडने पर मन को नियत्रित करने की आत्मशक्ति पैदा कीजिये। फिर देखिये कि मन सदा और सर्वत्र शुभ भावो से भरा हुआ रहेगा तथा उसका शुभ विनियोग एव शुभ उपयोग सचेष्ट रह कर कर्मशील बनेगा। ऐसे मन से शुभ भावो की सुरक्षा होगी तथा आत्मविकास सधेगा।

*****

14

पुण्य का प्रभाव और परिणाम

सुज्ञानी जीवा, भजलो जिन इक्कीसवा
भजन किया भव-भव ना दुष्कृत, दुख दुर्भाग मिट जावे।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्गति निकट न आवे।।
जीवादिक नव तत्त्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझीजे।
तीजो उपादेय ओलख ने, समकित निर्मल कीजे।।
सुज्ञानी जीवा

परमात्मा को प्रतिदिन आदर्श के रूप मे उपस्थित करके भक्ति के स्वरूप को समझना है। भजन की विधिया अनेक तरह से प्रचलित हैं। जितने भी छद्मस्थ साधक हो गये हैं, उन्होने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रभु की आराधना की तथा जो विधि उनके लिये हितावह बन गई उसका उल्लेख उन्होने किया है। किन्तु जिन्होने समग्र साधना के परिपूर्ण स्वरूप को पा लिया एव जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हो गये उन्होने जो विधि बतलाई है, वही विधि आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से सर्वांग सुन्दर, सभी प्राणियो के लिये हितावह एव समग्र आत्माओ को परिपूर्णता के मार्ग की ओर बढाने वाली पवित्रतम विधि है।

तत्त्वों के ज्ञान के साथ चैतन्य की आराधना

सर्वज्ञ द्वारा निर्देशित विधि के अनुसार यदि मनुष्य प्रभु की आराधना करे तो अन्य सारी विधिया स्वत ही स्पष्ट हो जाती हैं। कवि ने ऊपर भजन के फल का निर्देश करते हुए जिस विधि का सकेत दिया है, वह सकेत समग्र विश्व की चेतना तथा चिन्तन के साथ पिंड के रूप मे रहने वाले आत्मतत्त्व का भी भव्य चिन्तन है। इसे जीवादिक नव तत्त्वों के चिन्तन के रूप मे समझना चाहिये।

तात्त्विक चिन्तन से ही ज्ञान होता है कि शरीर पिंड में रहने वाला चैतन्य तत्त्व किस गति से चलता है वर्तमान में उसकी क्या दशा बनी हुई है.

सयोग मिले या नही मिले, तब भी मानसिक रसायन की उत्कृष्टता चैतन्य तत्त्व को प्रखर वना देती हे।

मन-पुण्य का तात्त्विक चिन्तन मनुष्य योनि से ही प्रारभ होता है और मुख्य रूप से इसी जीवन मे मन को ऊचाइयो तक पहुचाया जा सकता है। मन-पुण्य का परिणाम भले ही स्वर्ग-प्राप्ति के रूप मे भी मिले किन्तु इसका प्रभाव मानव–जीवन मे ही परिलक्षित होता हे। मन की गतिविधियो को प्रभावशाली बनाने की कर्मभूमि यही मानव–जीवन है।

मन की गतिविधियों के मोड़ तथा उतार–चढ़ाव

जिस सम्यक्दृष्टि आत्मा ने तीर्थंकर नामकरण का बन्ध प्रारभ किया ओर सयोगवश कर्म–बन्धन कुछ अवशेष रह गया तो उस आत्मा को स्वर्ग की गति मिल जाती है, लेकिन स्वर्ग मे भी मनुष्य–जीवन जैसी साधना की परिस्थितिया नही होती हैं और न ही मन की गतिविधिया उच्चतम रसायन का निर्माण कर सकती हैं। स्वर्ग मे भौतिक वैभव की प्रचुरता है, किन्तु वहा पर इस मानसिक धरातल से अवशेष तीर्थंकर नामकरण बध भी पूरा होता है। सयोगवश किसी आत्मा ने अपनी करणी से नरक का आयुष्य बाध लिया ओर बाद मे वह सम्यक् दृष्टि बनी ओर वह तीर्थंकर नामकरण गौत्र बाधना चाहे एव आयुष्य समाप्ति के समय नरक मे चली जावे तो अवशेष तीर्थंकर नामकरण प्रकृति का बध नरक मे भी पूरा कर सकती है। यद्यपि नरक मे जाते ही अन्तर्मुहूर्त मे घोरतम वेदना प्रारभ हो जाती है, फिर भी मानसिक रसायन की प्रक्रिया इस ढग से चल सकती है कि उत्कृष्ट रसायन मन से नही निकले। परिणामस्वरूप उसका फल तीर्थंकर नामकरण का बध कराने मे सहायक हो सकता है।

इसलिये जीवन के साथ मन–पुण्य का जो सम्बन्ध हे उस सम्बन्ध को आद्योपान्त समझने की आवश्यकता हे। जिन आत्माओं का मानसिक धरातल मन की गतिविधियो के मोड तथा उतार–चढाव के आधार पर ढलता है, उस पर उत्कृष्ट मानसिक रसायन का परिवर्तन नही आने पर भी जितनी उत्कृष्ट भावनाए बनती हैं, उन भावनाओ के माध्यम से उत्कृष्ट पुण्यवानी का सचय होता है। यह पुण्यवानी ऊर्ध्वगामी होती है।

मन की गतिविधियो के मोड़ आत्मा की पूरी सावधानी मागते हैं। जहा साधना और वासना के बीच मनोदशा मे टकराव पैदा होता है, वे ही मोड़ कहलाते है। इन मोड़ो पर चतन्य तत्त्व सजग रहे तथा मन की चिन्तन धारा को नियन्त्रण मे रख ले तो मन अपनी स्वस्थ गति से मोड़ को पार कर

लेता है तथा बाह्य पदार्थो के प्रलोभन की वासना उसका कुछ भी अहित नही कर सकती है। ये मोड ही मन मे उतार–चढाव का दृश्य उपस्थित करते हैं। इस टकराव मे मन मजबूत रहता है तो वह अपने ऊर्ध्वगामी मार्ग पर ऊपर चढ जाता है तथा उत्कृष्ट रसायन का निर्माण कर लेता है। लेकिन इससे विपरीत स्थिति मे मन की साधना जब हार खा जाती है तो मन पर वासना हावी हो जाती है और मन पतन के उतार पर लुढक जाता है। मन की गतिविधियो के मोड इस तरह मन के उतार–चढाव के कारण बन जाते हैं।

मन का धरातल और पूर्ण व जीर्ण सेठ का उदाहरण

मानसिक धरातल पर चढने–उतरने वाली विचार श्रेणी का स्वरूप पूर्ण व जीर्ण सेठ के उदाहरण मे देखने को मिलता है। वैशाली नगरी मे महावीर प्रभु पधारे। नगरी के बाहर प्रभु ने चार माह की तपस्या अगीकार की तथा ध्यानस्थ खडे हो गये। जीर्ण सेठ प्रतिदिन अपनी शारीरिक निवृत्ति हेतु उसी मार्ग से बाहर जाया करता था। जब उसने प्रभु को ध्यानस्थ देखा तो वह मन मे अत्यधिक उल्लसित हुआ और प्रभु के चरणो मे निवेदन करने लगा– भगवन्! आप अडोल अवस्था मे ध्यानस्थ है। लगता है, आज आपका तप है और इस तप का पारणा तो अवश्य होगा ही। पारणे के लिये इस अकिचन दास को न भूले। मैं इसी नगर मे रहता हूँ। समुचित रूप से भक्तिपूर्वक उसने निवेदन किया और अपने स्थान पर पहुच गया।

प्रभु के दिव्य स्वरूप का चिन्तन उसके बाद भी जीर्ण सेठ के मन मे बराबर चलता रहा। रात बीती तो फिर उसके मन मे उमग जगी कि कब मैं जल्दी जाऊ और प्रभु के दर्शन करू। सभव है भगवान् आज पारणा करेगे तो मेरे घर को अवश्य पावन बनावेगे। उसी भावना से वह फिर वही पहुचा तो देखा कि प्रभु तो उसी तरह ध्यानस्थ खडे हैं। उसके मन की उत्कृष्ट भावना प्रगाढ बनी, उसने फिर प्रभु से उसी प्रकार का निवेदन किया तथा घर को लोट आया। यह कार्यक्रम नियमित रूप से चार माह तक बराबर चला।

तब जीर्ण सेठ के मन मे निश्चय हो गया कि प्रभु ने चार माह का तप ठान रखा है तथा चातुर्मास समाप्ति पर ही ये तप का पारणा करेगे। उसने सोचा कि मेरी प्रगाढ श्रद्धा, अटूट भक्ति तथा उत्कृष्ट भावना प्रभु के ज्ञान मे हैं, अत वे मुझे अवश्य ही कृतार्थ करेगे। ऐसी भावविभोर मनोदशा मे अपने द्वार पर खडा होकर प्रभु के आगमन की वह एकटक प्रतीक्षा करने लगा। उत्कृष्ट मानसिक रसायन के कारण उस समय उस जीर्ण सेठ की पुण्यवानी इतनी उत्कृष्ट विधि से वध रही थी कि यदि थोडे समय के लिये

ही वह उत्कृष्टता ओर चलती तो वह केवलज्ञान तक की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता। किन्तु मन की गतिविधियो के मोड बडे विचित्र होते हैं।

महावीर प्रभु ने अपने ज्ञान मे कुछ ओर देखा तथा वे पारणे के दिन एक दूसरे पूर्ण सेठ के यहा पहुच गये, जिसकी प्रभु के प्रति कोई श्रद्धा नही थी। वह इतना कजूस था कि दान देना भी पसन्द नही करता था। उसके यहा कोई भिक्षा नही ले पाता था। किन्तु ज्यो ही प्रभु वहा पहुँचे पूर्ण सेठ ने उनके दिव्य स्वरूप को देखा तो वह प्रभावित हुआ। उसके मन मे एकाएक विचार आया कि इस भिक्षुक को तो कुछ देना चाहिये। उसके मन मे शुभ भावना का सचय हुआ। उसने दासी को कुछ देने के लिये आवाज लगाई। दासी ने इसे शुभ लक्षण माना और सोचा कि सेठ के मन मे शुभ भावना का अकुर उगा ही है सो अच्छा पदार्थ दे दूगी तो वह जल जाएगा। इसलिये उसने सेवल उर्द के बाकले प्रभु को दिये। प्रभु ने उन्हे समभाव से ग्रहण किया।

उसी समय देव दुन्दुभि बजी तथा आकाश से सोनेयो की बरसात होने लगी। यह आवाज जीर्ण सेठ के कानो तक भी पहुची। उस आवाज से उसकी उत्कृष्ट भावना मे मदी का दोर आ गया। उसके मन की जिस भावना का प्रवाह ऊर्ध्वगामी चल रहा था, वह निराशा की स्थिति मे विपरीत दिशा की ओर मुड़ गया। कहा तो केवलज्ञान की प्राप्ति निकट हो चली थी ओर कहा वही भावना उसे दूसरी ओर खींच ले गई।

मन-पुण्य की ज्ञेय, हेय एवं उपादेय परिस्थितियां

मन-पुण्य की धारा कितनी तीव्रता के साथ वह जाती है और मनुष्य को कहा-से-कहा लेकर चली जाती हैं- इन परिस्थितियों का ज्ञान एक साधक को होना चाहिये। इसलिये मन-पुण्य का यह विश्लेषण ज्ञेय- जानने योग्य है, कथचित् उपादेय- ग्रहण करने योग्य है तो कथचित् हेय- छोडने योग्य भी है। तीनो अवस्थाओं का इसके प्रति सम्बोधन है। जब ऊपर की अवस्था प्राप्त होगी तो केवलज्ञान प्राप्त होता है तथा उसके वाद का गुणस्थान भी इसी पुण्य के फल के रूप में मिलता है। तभी मानसिक धरातल पर केवलज्ञान की साधना सफल बनती है। जिनका द्रव्य-मन शरीर की स्थिति स बलवान होता है, वे ही प्रारम्भिक धारा में वहते हुए चार घाती कर्मों को समाप्त करके मोक्षगामी होते हैं।

इसीलिये बन्ध और मोक्ष- दोनों स्थितियों का कारण इच्छे मन को माना गया है। बन्धनों में भी मन जब तीव्र गति से पतन की ओर वह उठ

है तो कठिनतम बधनो से आत्मा को जकड देता है। लेकिन अपनी भावधारा को चढाव का मोड देकर वही मन इन कठिनतम बन्धनो को काट कर मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त बना देता है।

पुण्य–तत्त्व इस रूप मे ज्ञेय है कि पुण्य तथा विशेष रूप से मन–पुण्य के प्रभाव तथा परिणाम का गहरा अध्ययन किया जाना चाहिये। इसी अध्ययन से मन की गतिविधि की पहिचान होती है तथा उस पर नियत्रण पाने की विधि का अभ्यास बनता है। पुण्य उपादेय भी है, क्योकि इसी के प्रभाव से स्वय स्वस्थ मन भी प्राप्त होता है तो विविध प्रकार की साधन-सामग्री भी मिलती है, जिसके द्वारा आत्मोन्नति के नये–नये सोपान चढने को मिलते है। पुण्य–तत्त्व हेय भी होता है और उस स्तर तक पहुचने के बाद इसे छोडना भी पडता है। इसे एक दृष्टान्त से समझिये। एक नदी के इस पार से उस पार पहुचना है तो नदी को पार करने के लिये जिस साधन की जरूरत होगी, वह साधन है नाव का साधन। इस नाव को आप पुण्य समझ ले। नाव की सहायता से नदी के अथाह जल मे भी आप सुरक्षित आगे बढते जायेगे, किन्तु नदी के उस किनारे तक पहुच कर फिर नाव को भी छोड देना पडेगा। नाव से बाहर कदम निकालने पर ही उस पार के भूतल पर कदम रखा जा सकेगा। इसी रूप मे पुण्य की सहायता से गुणस्थानो की ऊची मजिले तय होगी लेकिन मोक्ष के भूतल पर पहुचने के पहले इस पुण्य को भी छोडना पडेगा। इस तरह पुण्य का ज्ञेय, उपादेय तथा हेय रूप समझना चाहिये।

पुण्य एकान्त हेय नहीं

वीतराग देव ने पुण्य–तत्त्व को सर्वथा हेय नही बताया है। उन्होने भावना की बात कही है, ग्रहण करने की बात कही है, आत्मा की बात कही है तथा जब आत्मा की समग्र सिद्धि हो जाए तो उस वक्त उसके त्याग की बात भी कही है। अत इस तत्त्व के विषय मे परिस्थितियो के अनुसार तीनो प्रकार के दृष्टिकोण उपस्थिति होते है। वह ज्ञेय, उपादेय और हेय भी है। यदि पुण्य–तत्त्व को एकान्त रूप मे हेय या त्याज्य बोल दिया जाता है तो वहा प्रभु–भक्ति की भव्य सेवा भी नही हो सकेगी। सुसेवा से पुण्यवानी का बन्ध होता है तो कुसेवा से जीवन मे दु ख व दुर्भाग्य भी मिलता है। उस समय भी प्रभु–भक्ति की पवित्र आराधना में यदि वह लगता है तो उस दुर्भाग्य से भी मुक्ति पा सकता हे। दु ख व दुर्भाग्य का वह अन्त करके सदभाग्य के साथ मोक्ष तक भी प्राप्त कर सकता है।

मानव–जीवन मे यह मन–पुण्य का साधन प्रत्येक को प्राप्त होता हे अत इस साधन से प्रत्येक को लाभ उठाना चाहिये तथा सुसाधन का सचय करना चाहिये। यह सुअवसर बार-बार मिलने वाला नहीं हे। यदि इसी मन के भीतर कुत्सित वासनाए उठती हैं, बुरे भाव तूफान मचाते हैं या हीन दृष्टिकोण पनपता है तो यही मन मनुष्य का प्रबल शत्रु बन जाता हे। मन की विगति मे वह भोग–वृत्तियो मे डूब जाता है तथा जीवन मे ईर्ष्या द्वेष, वैर, हिसा आदि कलुषित वृत्तियो का कालापन इकट्ठा कर लेता हे। ऐसी दुर्दशा मे बहुमूल्य पुण्य का मूल्य भी समाप्त हो जाता हे।

पुण्य ही सब-कुछ नही हे– इस बात का अवश्य खयाल रखिये क्योकि वह आखिरी लक्ष्य नहीं हे। लेकिन आत्म–विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने की सहायता के रूप मे उसका महत्त्व भी कुछ कम नही हे। अन्तिम लक्ष्य अवश्य ही बन्धनमुक्त मोक्ष हे, किन्तु इस मजिल को तय करने मे पुण्य एक सबल सहायक और सशक्त माध्यम अवश्य हे जिसे एकान्त रूप से हेय नहीं कह सकते।

सीढ़ियों के बिना क्या ऊपर की मजिल में पहुंच सकेंगे?

कल्पना करे कि किसी को सातवी मजिल पर पहुँचना हे, तो वह सीढ़ियो की सहायता से ही ऊपर चढ सकेगा। वे आधुनिक सीढिया भले ही लिफ्ट के रूप मे हों। चढने के लिये सीढियो पर ठहरने या बैठने का सवाल नहीं है, लेकिन इन पर से गुजरे बिना भी ऊपर चढना सभव नही होता है। सीढियो पर चढ़ते समय आप यही सोचते हैं कि एक सीढी को देखू, उस पर चढू, फिर उसको छोड़ कर अगली सीढी पर पैर रखू। इस तरह प्रत्येक सीढी पर ज्ञेय, उपादेय तथ हेय की प्रक्रिया चलती रहती है। जब आखरी मजिल तक पहुच जाते हैं तो फिर सीढियो की कतई जरूरत नही रह जाती है। इसी रूप मे मोक्ष की मजिल तक पहुँचने मे पुण्य का प्रयोजन होता है। सीढ़िया या लिफ्ट छोड़ कर जो सातवीं मजिल के लिये उछाले लगा कर ऊपर पहुच जाने की कल्पना करता हो उसे आप कितना बुद्धिशाली समझते हैं– यह आप ही जाने।

मानव–तन मे आकर इन्हीं सीढ़ियो की साधना करनी चाहिये तथा ज्ञेय उपादेय तथा हेय का स्वरूप समझ कर एक के बाद दूसरी सीढ़ी चढते हुए ऊपर-से-ऊपर पहुचने का पराक्रम एक उन्नतिशील आत्मा को दिखाना चाहिये। कवि ने इसी दृष्टि से ज्ञानियो को सम्बोधित किया है कि–

सुज्ञानी जीवा भजलो रे जिन इक्कीसवां ....

यह सम्बोधन भव्य–जन को, जो ज्ञान के सन्मुख है, सुज्ञानी शब्द से किया गया है क्योंकि वही तत्त्व का भली प्रकार ज्ञान कर सकता है उस पर गहरा चिन्तन कर सकता है तथा उसके बाद प्रभु की गूढ आराधना कर सकता है। सुज्ञानी ही सत्य को समझ सकता है तथा चैतन्य को जाग्रत् बना सकता है।

मुक्ति, सौभाग्य एवं दुर्भाग्य पुण्य के प्रभाव और परिणाम में

मनुष्य का पुण्य और मन–पुण्य जब पुष्ट बनता है तो वह अपना सौभाग्य स्वय बनाता है तथा अन्तिम समय मे पुण्य का त्याग करके मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। लेकिन उसी मनुष्य के पुण्य जब क्षीण बनते हैं– वह अपने भटके मन को काबू मे नही कर पाता है तब उसी की असावधानी या पथभ्रष्टता उसके दुर्भाग्य को लाने वाली होती है। जैसी मनुष्य की चिन्तनधारा बनती है या बिगडती है, उसी के अनुसार उसके भाग्य का निर्माण होता है। जो निकाचित कर्मबध हैं, उनका तो फल भोगना ही पडता है, बाकी शुद्ध परिणामो का फल मोक्ष या स्वर्ग की ओर अवश्य ले जाता है।

यह शास्त्रपाठ है कि प्रभु के दिव्य वचनो को सुन कर श्रद्धावान् बने, सम्यक्त्वी बने, पुण्य की कामना करे, धर्म की भावना भावे तथा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को अपने सामने रखे, लेकिन विश्रामस्थल के तौर पर स्वर्ग की भी कामना करे। ऐसी भावना से आत्मा स्वर्ग से मनुष्य योनि मे आकर अपनी कर्मठ साधना से मोक्ष की प्राप्ति कर सकेगी। अत मन को उस दिशा मे लगावे जिससे पुण्यवानी बधे, कर्मों का नाश हो तथा पवित्र जीवन के साथ परम स्वरूप की आराधना कर सके।





भावना और आचरण का मेल

जय जय त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार
शीतल चन्दन नी परे, जपता निशि दिन जाप।
विषय कषाय थी ऊपनी, मेटो सब दुख ताप।।
आर्त रौद्र परिणाम थी, उपजे चिन्ता अनेक।
ते दुख कापो मानसिक, आपो अचल विवेक।।

परमात्मा के चरणो मे भव्य हृदय द्वारा अपने आन्तरिक उद्‌गारो को समर्पित करने का जो प्रसग है, वह प्रत्येक प्राणी के लिये उपादेय है। अन्तरात्मा की खोज मे जिस व्यक्ति का ध्यान लगता है, वह उस दिशा मे अवाध गति से आगे बढता है और जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण रहस्यो का ज्ञान कर लेता है। इस विषय का उसको विज्ञान हो जाता है कि कोनसी बुरी प्रवृत्ति किस प्रकार आत्मा को कर्म– बध के चक्र मे फसाती हे तथा कौनसे विचारो से आत्मा आर्त एव रोद्र परिणामो मे भटक कर पतित बनती है? तव वह प्रभु को निवेदन करता है– हे भगवन्, मेरा मन आपके स्वरूप और अवस्थान मे रमण करना चाहता है तथा आप जैसी अखड आत्मिक शक्ति को प्राप्त करने का इच्छुक है, अत मुझे वल दीजिये कि मैं अपनी विचार–श्रेणी पर नियत्रण पा सकू तथा अपनी भावना ओर आचरण का सुन्दर मेल विठा सकू।

क्या आप भगवान् के हृदय में बसना चाहते हैं?

गहरी आन्तरिकता के साथ जव परमात्मा की प्रार्थना की जाती है तो प्रार्थी यही निवेदन करता हे कि वह भगवान् के हृदय मे बस जाए। भगवान् का स्वरूप जिस अखडित रूप मे रहा हुआ है, उस अखडता के वीच जो आत्मिक शक्ति व्याप्त होकर विद्यमान है, वही भगवान् का हृदय है और उसी हृदय मे निवास करने को प्रार्थी का मन इच्छुक बनता है। क्या आप भी भगवान् के इस हृदय मे वसना चाहते हे?

यद्यपि शरीर विज्ञान की दृष्टि से हृदय की स्थिति बाईं ओर फेफडो के बीच मानी जाती है, किन्तु वह प्रसग यहा नही है। यहा हृदय से अर्थ लिया गया है प्रभु की अखड आत्मिक शक्ति के पुज से। ज्ञानीजन उसको हृदयाकाश भी कहते है। इसे असख्य आत्म–प्रदेशो का पुज भी कह सकते हैं। आत्मा के असख्य प्रदेश माने गये है। उन प्रदशो मे जीवन–शक्ति होती है। आत्मा का विराट् रूप इन्ही आत्म–प्रदेशो मे समाया हुआ रहता है। भव्य आत्माए अपनी बुद्धि को उस दिशा मे जाग्रत् बना कर कामना करती हैं कि हम परमात्मा के इसी परम हृदय को प्राप्त करे।

परमात्मा के उस परम हृदय मे बसने अथवा उसे प्राप्त कर लेने मे एक ओर जहा यह शरीर भी बाधक है, वहा सही एव कर्मठ उपयोग लिया जाए तो यह शरीर इस लक्ष्य के लिये साधक भी बन सकता है।

मन की गति एवं भावना की शक्ति

भगवान् के हृदय मे बसने की कामना है तो शरीर को उसके लिये साधक बनाना होगा। शरीर उस काम मे केसे साधक बनेगा? शरीर के साथ मन जुडा हुआ होता है। शरीर का चालक वस्तुत मन होता है। मन जिस ओर शरीर को मोडना चाहता है, उस तरफ शरीर की गति बनती है। मन मे यदि दृढ सकल्प बन जाए कि मुझे स्थिर और शान्त रहना है तो शरीर मे भी कोई हलचल नही होगी। जब आपके शरीर मे किसी भी प्रकार की चचलता दिखाई देती है तो उसका अभिप्राय यही लिया जाएगा कि आपके मन मे चचलता पैदा हो गई है। मन जब चचलता का सकेत देता है तो शरीर हलचल करता है। मन और शरीर की अवस्थाए इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित होती है।

कभी मनुष्य सोचता है कि मन सर्वथा अलग है और शरीर सर्वथा अलग। इसलिये मन मे पाप मत आने दो। मन मे पाप नही हो और शरीर किसी तरह का पापकार्य करले तो हरकत नही। इस तरह सोचने का तात्पर्य यह होता है कि भावना ही मुख्य होती है। शरीर भले ही कही पर हो, इस भावना के सहारे ही किसी बात का निर्णय लेना चाहिये। किन्तु इस प्रकार का चिन्तन, विवेचन अथवा दृष्टिकोण सही नही है। जो शरीर की हलचल दिखाई देगी, उससे मन का और मन की भावना का अनुमान लगाना होगा। यदि शरीर किसी हिसक कार्य मे जुटा हुआ है तो समझिये कि मन अलग नही है, शरीर का सहयोगी है। मन मे अमुक भावना उठती है और वह भावना शक्तिशाली होती है, तो वह शरीर को तदनुसार कार्य मे लगने की प्रेरणा देती है। वह भावना तब

कार्य-शक्ति के रूप मे परिणत होती हुई दिखाई देती है। मन और भावना की नियत्रक होती है स्वय आत्मा। इन सबका सम्बन्ध परस्पर यो जुडा हुआ है कि नियत्रक आत्मा, चालक मन तथा भावना से चालित शरीर।

मन की जैसी गति होगी उसी रूप मे भावना की शक्ति दिखाई देगी। शरीर के कार्य इस गति एव शक्ति के अनुसार चलेगे। इन सबको अपने अधीन रख सकने वाली आत्मा होती है, बशर्ते कि वह इतनी प्रबुद्ध तथा अपनी चालक शक्ति के प्रति जागरूक हो।

आत्मा, मन व शरीर के त्रिकोण में भावना के कोण

जैसे रेलगाडी का इजिन चलता है तो उसे चलाने वाला होता हे ड्राइवर, लेकिन वह इजिन की मशीन को चलाये बिना तो इजिन चला नहीं सकेगा। ड्राइवर जब हत्थे को घुमाता है तब इजिन की मशीने चलती हैं और वे उसके पहियो को गति देती हैं। चलता हुआ जो दिखाई देता है, वह इजिन होता है। इसी प्रकार आत्मा को ड्राइवर, मन को मशीने तथा शरीर को इजिन मानकर इस उदाहरण को घटाइये। आत्मा का सचालन सर्वोपरि होता ही हे। यह दूसरी बात है कि इजिन को चला कर ड्राइवर नींद लेने लगे। वैसी हालत मे इजिन या तो अव्यवस्थित गति से चलेगा अथवा दुर्घटनाग्रस्त होगा। आत्मा भी जब जाग्रत् नहीं रहती है तो मन और शरीर अनियत्रित होने से पथभ्रष्ट हो सकते हैं, बल्कि अधिकाश मे होते ही हैं। ड्राइवर को मशीनो के बारे मे पूरी जानकारी होनी चाहिये तथा उनके रखरखाव की मुस्तैदी भी। आत्मा यदि मन को अपने अधीन रखने का अभ्यास न करे अथवा मन की एकाग्रता की बारीकिया नही आजमावे तो मशीनो की तरह मन भी धोखा दे सकता है तथा इजिन को बिगाड़ सकता है। चलते रहने के लिये इजिन का मजबूत होना तो जरूरी है ही।

गति अबाध रूप से चलती रहे— इसके लिये तीनो मे सन्तुलन आवश्यक है। इन तीनो को गति देती है भाप। वैसे ही आत्मा, मन एव शरीर का सन्तुलन रखने वाली होती है भावना। ड्राइवर चलावे और भाप बनी हुई नही हो तो न मशीने चलेगी और न इजिन पटरी पर दौड़ेगा। भाप कैसे और कब कितनी लगाई जाए या छोड़ी जाए अथवा भाप कैसे और कब बनाई जाए— इसका नियंत्रण ड्राइवर के पास होना चाहिये। तभी ड्राइवर का नियंत्रण मशीन पर रहता है। इसी तरह भावना आत्म-प्रेरित हो तो मन पर आत्मा का पूर्ण नियत्रण बना रहता है, जिससे मन के जरिये शरीर की हलचल का नियत्रण भी आत्मा के पास ही रहता है। नियंत्रण का यह

सिलसिला जितना स्वस्थ होगा, विकास की गति उतनी ही स्वस्थ एव सुघड रहेगी और इस सिलसिले का बिगाड गति को विकृत बनायेगा।

सक्षेप मे आत्मा, मन एव शरीर का एक त्रिकोण मान लीजिये, जिसके सारे कोण भावना के कोण होते हैं।

प्रत्येक कार्य की प्रेरक भावना होती है

प्रत्येक कार्य को करने की प्रेरणा भावना से ही मिलती है। जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी कृति एव फल—परिणति होती है। कार्य बाहर दिखाई देता है और उसी से भावना की परख होती है। शरीर यदि हिसा का कोई कार्य कर रहा हो तो सही अनुमान यही लगेगा कि उस शरीरधारी की भावना हिसक हो रही है। पागल या नामसझ को छोड दे— बाकी यह अनुमान सही ही निकलेगा। हिसा करते हुए शरीर मे अहिसक मन या भावना का निवास होगा— यह सामान्य रूप से माना नही जा सकता है।

ससारी आत्मा जहा भावना या मन पर पूरा नियत्रण नही रहने से शरीर की स्थिति को पूरी तरह सम्हाल नही पाती है, वहा छद्मस्थ साधक भावना या उपयोग को सयम साधना से नियत्रित करता हुआ अपने शरीर को तदनुसार प्रयोग मे लेता है। उपयोग का अर्थ यहा विवेक या भावना से लिया गया है। मन की जैसी भावना या जैसा उपयोग होगा, उसी रूप मे शरीर का व्यवहार बनेगा। उपयोग आत्मा की शक्ति है जो मन को सचालित करती हुई शरीर को उसके अनुसार कार्य-प्रवृत्त बनाती है। किसी व्यक्ति के हाथ मे, कल्पना करे कि एक तलवार है और यदि उसका उपयोग किसी गायन की तरफ है तो तलवार वैसे ही रहेगी, कुछ कर नही पायेगी। तलवार की तरफ उपयोग जाएगा, तभी उसका उपयोग हो सकेगा। कारण, तलवार किसी की हिसा करने का इरादा थोडे ही करती है— "वह तो जडतत्त्व है।"

जैसे तलवार नही समझती, वेसे ही आत्मिक—शक्ति के बिना हाथ भी कुछ नही समझता। यह हाथ स्वत नही उठता। उठाने वाली भावना है, उपयोग हे। किस तरकीब से हाथ को उठाता है, किस तरकीब से ले जाता हे ओर केसे कोमल अग को मल देता हे, फिर भी इतना विवेक रखता हे कि उस अग को जरा-सी भी ठेस नही पहुचती है। इस प्रकार सावधानी ओर विवेकशक्ति रखने वाला हाथ नही होता हे, बल्कि हाथ को सचालित करने वाली भावना होती है। यह उपयोग की शक्ति ही प्रत्येक कार्य की प्रेरक होती हे जो द्रव्यमन मे होती हुई शरीर में व्याप्त होती हे, तब शरीर पुण्य या पाप के कार्यो मे प्रवृत्त होता हे।

जीवन के आचरण में दुर्भावना, असावधानी व दुर्घटना का अन्तर

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मे आचरण का निर्माण अधिकाशत भावना के आधार पर होता है। जब मन मे किसी के प्रति दुर्भावना जागी हुई हो तो वह शरीर के माध्यम से उसका अनिष्ट करने मे प्रवृत्ति करेगी। यदि पापकारी कार्यो की भावना प्रबल है तो वह शरीर को पापकारी कार्यो की उत्तेजना प्रदान करेगी ही। पापी मन अपने पाप मे वचन और काया को भी डुबोता ही है। दुर्भावनापूर्ण आचरण मन, वचन ओर काया– तीनो को अशुभ कार्य के एक गठजोड मे बाधता है।

असावधानी व दुर्घटना के रूप मे ऐसा प्रसग बन सकता है, जहा भावना तो पापकारी कार्य करने की नही होती है, उपयोग भी नहीं हे, फिर भी गफलत मे या बिल्कुल अनजान मे कोई पापकार्य हो जाता है। जैसे गफलत या अनजान मे पैर किसी जन्तु पर पड़ गया और वह मर गया तो वैसी हिसा निकाचित कर्म–बध कराने वाली नहीं होगी। कर्म–बन्धन अवश्य होगा, लेकिन उससे छुटकारा जल्दी हो जाएगा।

आपके सासारिक व्यवहार मे भी कानून मुख्यत भावना की ओर पहले ध्यान देता है। कैसा भी अपराध हो और उसमे अगर अपराध करने की नीयत साबित नही होती है या वह अपराध अचानक दुर्घटना के रूप मे हो जाता है तो उसमे दड नही मिलता है। बुनियादी तौर पर यह माना जाता है कि अपराध का आधार दुर्भावना होनी चाहिये।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन मे भावना का अत्यधिक महत्त्व होता है। यही भावना उच्च–श्रेणी की बनती जाए तो चन्द क्षणो मे वह मनुष्य को मोक्ष की देहरी तक पहुचा देती है और यही भावना जब नीचता की ओर बहे तो जीवन को पतन के गहरे गर्त मे गिरा देती है।

भावना और आचरण का फलभोग आत्मा को लेना होता है

यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये कि यदि शरीर का व्यवहार अशुभ काम मे लग रहा है तो उस अशुभ काम की एवज मे अशुभ कर्मो को बाधने वाली आत्मा होगी, न कि शरीर। शरीर तो स्वय कर्मफल-भोग के रूप मे आत्मा को मिलता है। आत्मा ही वास्तव मे कर्ता होती है तथा फल की भोक्ता भी। इजिन पटरी से नीचे उतर जाएगा तो उसका दड ड्राइवर को ही दिया जाएगा। कर्मबन्धन आत्मा ही करती है, किन्तु वह शरीर, मन और इन्द्रियो को माध्यम बना कर कर्मबन्धन करती है। जिस दूकान के नाम से दूकानदार कर्ज लेता है– उस कर्ज के लिये दूकान

जिम्मेदार नही होती। दूकानदार कई दूकाने बदल ले, तब भी कर्ज चुकाने की जिम्मेदारी से वह छूट नही सकता है। वैसे ही यह शरीर रूपी दूकान है और मन, वचन, काया के योग उस दूकान के साधन, सामान आदि हैं। दूकानदार आत्मा है। आत्मा अच्छे या बुरे कर्म करती है तो उसे उसका फल–भोग– वह कई शरीर बदल दे– तब भी लेना ही पडता है।

शास्त्रीय दृष्टि से स्पष्ट उल्लेख है कि जहा मनुष्य के आन्तरिक जीवन की भावना धर्म करने की है– पाप का परित्याग करने की है तो वह मनुष्य अपनी भावना तक ही नही रहेगा, बल्कि उस भावना को वह अवश्य ही कार्यरूप मे परिणत करेगा। उसको कार्यान्वित करने से मन, वचन एव काया के योगो मे पवित्रता का सचार होगा। तब भीतर-बाहर के स्वरूप मे एकरूपता आयेगी और वही एकरूपता भावना तथा आचरण मे भी व्याप्त होगी।

भावना और आचरण का परस्पर प्रभाव

कभी कोई चिन्तक ऐसा सोच लेता है कि भरत महाराज ने अपने शीशमहल मे केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था तो वहा उन्होने मन, वचन, काया के योग को सयमी आचरण मे कहा परिवर्तित किया? केवल भावना ही भावना से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसा स्थूल बुद्धि से सोचा जा सकता है। जिनका गहन चिन्तन है। वे भावना और आचरण के परस्पर प्रभाव का सूक्ष्म दृष्टि से ही विश्लेषण करते है।

भरत महाराज अपने शरीर की दृष्टि से तो शीशमहल मे खडे थे और वही पर उनकी भावना का प्रादुर्भाव हुआ, लेकिन वह प्रादुर्भाव एक निमित्त से हुआ। उनकी अगुली से अगूठी नीचे गिर गई– शीशे मे उन्हे दिखाई दिया कि अगूठी के गिर जाने से अगुली की शोभा घट गई है। इस पर उनकी भावना का प्रवाह चला। वे आगे बढे– एक–एक आभूषण उतारते रहे और नग्न सत्य का अनुभव करते रहे। तब शरीर–स्वरूप को उन्होने गहराई से परखा। इससे उनके मन मे अनिर्वचनीय भावना का जागरण हुआ और आध्यात्मिक धारा बह चली। वह धारा इतनी वेगवती हुई कि वह शीघ्र ही शरीर के अणु–अणु मे व्याप्त हो गई– शरीर के अन्दर के प्रत्येक आत्म–प्रदेश मे प्रवेश कर गई। हाथ मे आत्म–प्रदेश है, आख की पलको मे आत्म–प्रदेश है, शरीर के प्रत्येक अगोपाग मे आत्म–प्रदेश है और वहा सयमी जीवन की भावना की उज्ज्वलता आत्म–प्रदेशो मे आती है तो वह सर्वत्र व्याप्त होती हे ओर सयमी भावना का परिणाम परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप मे परिणत होता हे। वह रूप मन, वचन, काया की एकरूपता का बन

जाता है। प्रमत्त स्थिति मे केवलज्ञान नहीं हो सकता है। अत प्रमाद त्याग के साथ–साथ भरत महाराज की गुणस्थान–स्थिति ऊपर ओर ऊपर चढती गई। केवलज्ञान प्राप्त होते ही भरत महाराज ने राजमहल छोड दिया ओर वे केवलियो की परिषद् मे सम्मिलित हो गये।

यदि आत्म–भावना का सचार प्रत्येक अवयव मे होता है ओर परिपूर्ण केवलज्ञान की स्थिति रहती है तो वैसा पुरुष ससार घर अथवा किसी स्थान मे आबद्ध होकर नही रहता है। माता मरुदेवी के भावना–उत्थान के सम्बन्ध मे भी भावना सम्बन्धी इसी सत्य को समझ लेना चाहिये। शुद्ध भावना की परिणति शरीर के प्रत्येक अवयव मे होती है यानी कि प्रत्येक आचरण मे होती है और उपयोग के साथ रहती है, तभी कोई सच्चा आराधक वन सकता है।

भावना और आचरण का मेल विवेक के धरातल पर

महावीर प्रभु ने शास्त्रों मे सकेत दिया है कि शास्त्रों का कठ से उच्चारण करने से ही स्वाध्याय नहीं हो जाता है, उसके लिये भावो का मनन होना चाहिये। और मनन के बाद वह ज्ञान आचरण मे उतरना चाहिये। इसीलिये उन्होने मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान और क्रिया– दोनों के सयोग से सभव वताई है। इसे ही आप भावना और आचरण का मेल कह सकते हैं, किन्तु यह मेल तब तक कामयाब नहीं बनता, जब तक इसे विवेक के घरातल पर नहीं जमाया जाता। दशवैकालिक सूत्र मे बताया है कि साधक की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्ण होनी चाहिये– वह हाथ–पैर, वाणी, मन– सबका सचालन विवेक एव सयम के साथ करे। यह विवेक और संयम जब मन, वचन, काया के योग मे समाता है ता सारे योग-व्यापार में एकरूप पवित्रता प्रवेश करती ह।

विवेक के धरातल पर जब भावना और आचरण का शुभ परिणामों के साथ मेल होता है तो आत्मा ऊर्ध्वमुखी बनती है। ऊर्ध्वगति या [illegible] अपनी ही भावना मे रहती है क्योंकि भावना ही वचन एवं आचरण को [illegible] अनुरूप ढालती है।

भावना और ध्यान [illegible] से आराधना बढ़ती है

भावना मे अशुभ परिणामों का [illegible] रहता है तो कलुषित [illegible] रौद्र– ध्यान प्रबल बनते हैं किन्तु शुभ परिणामों का प्रभाव [illegible] शुक्ल–ध्यान आत्मप्रदेशों में व्याप्त बनते हैं। जिन आत्माओं का [illegible] रहता है, वे आत्माएं ससार को [illegible] [illegible] हैं। [illegible] कला को भावना न मान लें– भावना का [illegible] [illegible]

16

विद्या को फलवती बनावें

जय, जय, जय भगवान
जय जय जय श्री सिद्ध भगवान

यह सिद्ध परमात्मा की स्तुति है। जो वीतराग हो गये तथा वीतराग होकर जिन्होने अपने-आप को सम्पूर्णतया मुक्त एव ज्योतिस्वरूप बना लिया, उन सिद्ध भगवान् के साथ कवि ने इस प्रार्थना मे एकाकार होने की भावना व्यक्त की है। सिद्ध भगवान् के साथ एकाकार होने का क्या अभिप्राय है? आप जानते हैं कि आत्मा जब परमात्मस्वरूप का वरण करती है तो सिद्ध शिला पर विराजित हो जाती है। सिद्ध शिला पर सिद्ध आत्माओ का स्वरूप इस रूप मे है कि ज्योति मे ज्योति रूप सभी आत्माए वहा एकाकार बन जाती हैं।

सिद्ध परमात्मा के साथ अपनी आत्मा के भी एकाकार हो जाने की भावना रखने का तात्पर्य है कि यह आत्मा भी मोक्षगामी बने, कर्म—मैल से सर्वथा विमुक्त बन कर ज्योतिस्वरूप बन जाए।

इस एकत्व भावना की सफलता का अन्तर्रहस्य

सिद्ध प्रभु के साथ सिद्ध होने की दृष्टि से एकत्व साधना प्रत्येक भव्य आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है-लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि यह एकत्व किस प्रकार साधा जा सकता है?

एकत्व का अर्थ होता है एकता के सूत्र का सम्पादन करना। सिद्ध भगवान् के साथ एकत्व सध जाना परिपूर्ण स्थिति का प्रतीक है किन्तु इस एकत्व की परिपूर्ण स्थिति एकदम प्राप्त नही हो जाती है। यह एकत्व भी क्रमिक एव कठिन साधना का विषय होता है। इस समय मानव जीवन मे बैठे हुए हैं तो इस एकत्व की साधना यहीं से प्रारम्भ हो जानी चाहिये। वैसे भी मानव जीवन को दुर्लभ इसीलिये कहा गया है कि साधना का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र यहीं जीवन होता है तथा इसी जीवन मे उच्चतम उपलब्धिया और यहा तक कि सिद्ध-स्थिति भी प्राप्त की जा सकती है। इसी जीवन मे एकत्व की साधना को भी सफलतापूर्वक साध सकते हैं।

यह मानव जीवन है तो पहले मानव–मानव के बीच एकत्व की स्थापना होनी चाहिये। यो तो उद्देश्य बहुत व्यापक है कि विश्व के प्राणीमात्र के साथ एकत्व की भावना बने और उस दृष्टि से मानव–मानव के साथ प्रारम्भिक रूप से इस एकत्व की भावना का निर्माण हो। लेकिन यह उद्देश्य भी कम व्यापक नही है। मानव–मानव को एकता के सूत्र मे पिरो कर देखना– यह अति महत्त्वपूर्ण है। इसके लिये सबसे पहले अपने मानस मे मानवता का धरातल बनना चाहिये और मानवता से परिपूर्ण सवेदनशीलता पैदा होनी चाहिये, जिसका अभिप्राय यह माना जाएगा कि आपके हृदय मे प्रत्येक मानव साथी के लिये हित–कामना का उदय हो चुका है। जिसके प्रति हित कामना होती है उसके सारे सुख-दु ख के साथ आपका मन जुड जाता है। जब इस प्रकार निर्लिप्त भावना से मन सम्पूर्ण मानव-समाज की हित कामना से सम्बद्ध हो जाता है तो वहा मानवीय एकत्व का सूत्र जुड गया है– ऐसा मानना चाहिए। मानव-जीवन एव मानवीय धरातल पर रहते हुए मानव–मानव के जीवन की सर्वांगीण एकता का सम्पादन किया जाए– यह इस जीवन का प्राथमिक लक्ष्य बनना चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य के मन-मस्तिष्क मे मानवीय भावना विशाल रूप मे तभी अभिव्यक्त हो सकती है, जब वह अपने जीवन को सम्पूर्ण मानवता के साथ एकत्व की भावना के साथ जोड देता है। यह मानवीय एकता का सूत्र व्यक्ति–व्यक्ति से सम्बन्धित होता है, अत व्यक्ति–व्यक्ति का आन्तरिक जीवन जितना स्वार्थ अहकार एव अन्य विषम वृत्तियो से दूर हटकर समता के क्षेत्र मे रमण करेगा तथा आत्मीय पवित्रता से अभिभूत बनेगा, उतना ही उसके अन्त करण मे मानवीय एकता का सूत्रपात हो सकेगा।

मेरा मानना है कि इस मानवी एकता का प्रारम्भ आपके बाल–हृदयो से ही हो जाना चाहिये, कारण बालक का हृदय इतना कोमल होता है कि उस पर जिस प्रकार के सस्कार डाले जायेंगे, वे ही पुष्ट बन जायेंगे तथा इस मानवीय एकता का आधार होगा उसी प्रकार की विद्या का उपार्जन। बाल्यकाल मे ऐसी शिक्षा मिलेगी तो मानवीय एकत्व का धरातल उसी भाति निर्मित हो सकेगा।

सारे विद्यालय मानवता के मन्दिर बनें!

इस विद्यालय मे और सारे विद्यालयो मे छात्रो को विद्यादान देने का जो प्रयास किया जाता है, विद्यालय के सचालक और शिक्षक इस तथ्य को [illegible] करे कि [illegible] विद्यालय मे मानवीय एकता के सस्कार छात्रो मे डाल

जाते हैं या कि नही? प्रारम्भ से ही बालको के मन मे जातिगत, सम्प्रदायगत अथवा अन्य प्रकार की विषमताओ की जमावट न हो और उन के घर के सस्कारो से ऐसी कोई विषमता आ गई हो तो विद्यालयो मे उन विषमताओ का निराकरण होना चाहिये।

बाल्यकाल सर्वाधिक सूक्ष्मग्राही काल होता है। अपने चारो ओर के वातावरण मे वह जो-कुछ देखता है, उसे पकडने की चेष्टा करता है। उसके कोमल मन पर वातावरण की जो पहली छाप पडती है वह जम जाती है और उसका प्रभाव दीर्घकाल तक बना रहता है। इन्हे ही हम सस्कार कहते हैं। यह सस्कार-निर्माण पहले घर मे होता है तो बाद मे विद्यालय मे। घर मे माता-पिता एव परिजनो का जो चरित्र बालक के सामने आता है, वह उसके गुणो या अवगुणो को ग्रहण करता है, लेकिन विद्यालय मे वह जो देखता है, उसे भी सीखता है तथा उसे जो सिखाया जाता है, उसको भी सीखता है। इस दृष्टि से शिक्षा एव शिक्षक– दोनो का भरपूर प्रभाव शिक्षार्थी के मन पर पडता है तथा विद्यालय मे ग्रहण किये हुए सस्कारो के आधार पर उसके समूचे जीवन का निर्माण होता है।

शिक्षार्थी अपने जीवन मे स्वय सच्चा मानव तभी हो सकेगा तथा वह मानवता का पुजारी तभी बन सकेगा, जब उसे घर के बाद विद्यालय मे मानवता के सस्कार मिलेगे। उसके शिक्षको का इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मानवतापूर्ण चरित्र होना चाहिये तो शिक्षा पद्धति भी मानवीय गुणो को प्रेरित करने वाली होनी चाहिये। शिक्षा, शिक्षक एव शिक्षार्थी की त्रिवेणी जब मानवीय गुणो से ओतप्रोत होगी, तब ही विद्यालय मानवता के मन्दिर बन सकेगे। ये तभी मानवीय एकता के सूत्रधार भी होगे।

विद्या की व्याख्या तथा विद्या का वास्तविक आधार

विद्या की व्याख्या छोटी-सी है, लेकिन उसमे समग्र भारतीय दर्शन का सार भरा हुआ है। वह व्याख्या इस प्रकार है–

सा विद्या या विमुक्तये।

विद्या वही है, जो विमुक्ति के लिये हो। मुक्ति की प्रेरणा जिससे मिलती हो, विमुक्ति की राह जो दिखाती हो वही विद्या वास्तविक विद्या है। मुक्ति किससे? मुक्ति बन्धनो से, मुक्ति विकृतियों से तथा मुक्ति भौतिक तथा आत्मिक विषमताओ से। यह मुक्ति मिलती है स्वतत्रता की अर्चना से सद्गुणो की आराधना से तथा समता की साधना से। इस समता का वातावरण ससार मे भी हो तो आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी। भौतिकता एव

आध्यात्मिकता के क्षेत्र कोई परस्पर विरोधी क्षेत्र नही होते हैं बल्कि ये दोनो क्षेत्र एक-दूसरे के पूरक होते हैं। समता जब मन, वचन एव तन मे समाविष्ट हो जाती है तो भौतिकता सदा आध्यामिकता से नियत्रित होती है तथा आध्यामिकता निजत्व को विसर्जित कर भौतिकता को सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय समर्पित कर देती है। यह विसर्जन एव समर्पण वही कर सकता है, जिसने सच्ची विद्या प्राप्त की हो।

विद्या का वास्तविक आधार मुक्ति की भावना पर टिका हुआ होता है। मुक्ति की भावना के साथ ग्रहण की हुई विद्या मुक्ति की दिशा मे अग्रगामी बनाती हे। विद्या का उद्देश्य जीवन की समग्र योग्यताओ का सम्पादन करना होता हे। ये योग्यताए एकागी नही होती हैं, सर्वांगीण होती हैं। विद्या मुक्तिदायिनी तभी बन सकती है जब वह जीवन के दोनो पक्षो को सुन्दर बनाने वाली हो। वह बाह्यपक्ष मे भी सामर्थ्य प्रदान करे तथा आन्तरिक पक्ष को भी चैतन्य बना दे– तभी वह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को योग्य बना सकती हे। विद्या के इस प्रकार दो रूप माने जा सकते हैं– एक व्यावहारिक शिक्षा तो दूसरी आध्यात्मिक विद्या। बाह्य जीवन को व्यावहारिक शिक्षा से स्वावलम्बन मिलता है तो आध्यामिक विद्या आत्मस्वरूप को उज्ज्वल बनाने का मार्ग दिखाती है। जीवन के दोनो पक्ष विकृतियो से विमुक्त बने– यह विद्या का फलितार्थ प्रकट होना चाहिये।

विद्या का फलितार्थ एवं विद्यार्थी की निष्ठा

जीवन के बाह्य एव आभ्यन्तर पक्ष विकृतियो से विमुक्त बनेगे तो जीवन गुण–सम्पन्न बन जाएगा। इन गुणो मे सबसे बडा गुण माना गया है विनय को ओर विद्या के लिये कहा गया हे कि यदि उसमे वास्तविकता होगी तो विद्या का फलितार्थ सवसे पहले विनय के रूप मे व्यक्त होगा–

विद्या ददाति विनय .

नीतिकारो ने विद्यार्थी की प्रारभिक गुणसम्पन्नता की दृष्टि से ही सकेत दिया हे कि जो विद्यार्थी वन कर विद्या ग्रहण करने लगा है तो उसकी पहली ही कसोटी यह हे कि वह विनम्र वन जाना चाहिये। यदि विद्या का प्राथमिक प्रभाव विनय के रूप मे प्रकट न हो तो विद्या की वास्तविकता मे शका करनी होगी।

इस कथन मे जीवन की महत्त्वपूर्ण परिणति का उल्लेख किया गया हे कि विद्या के प्रभाव स विनय आना चाहिये, न कि अभिमान। जो किसी भी रूप मे अपनी विद्या का अभिमान करता हे अथवा कि अपना व्यवहार

अभिमानपूर्ण बनाता हे उसे विद्वान ही कैसे कह सकते हैं? किसने कितना विद्याध्ययन किया और किसने नही किया– इसका पाठयक्रम की दृष्टि से तो परीक्षण विद्यालय की कक्षाओ मे हो जाता है क्योकि पाठ्यक्रम का सम्बन्ध तात्कालिक मस्तिष्क तक ही सीमित होता है किन्तु विद्या का परीक्षण तो विद्यार्थी के जीवन से सम्बन्धित होता है तथा पग-पग पर उस की सफलता अथवा असफलता से अनुमान होता है कि उसे सच्ची विद्या मिली कि नही।

विद्यार्थी की विद्याग्रहण के प्रति कितनी निष्ठा है अथवा विद्या को वह किस रूप मे आत्मसात् कर सका है– इसका परीक्षण उसकी विनयवृत्ति से ही किया जा सकता है। जिस छात्र के जीवन मे विनय की उपलब्धि दिखाई देती है उपलक्षण से विनय के साथ–साथ उसके जीवन मे अनुशासन एव राष्ट्रीय चरित्र का भी विकास हो जाता है। अनुशासन स्वैच्छिक होकर उसके जीवन का अग बन जाता है तथा उसके चरित्र मे राष्ट्रीय गौरव का प्रतिबिम्ब झलकता है। परिवार, समाज एव राष्ट्र के कल्याण की भावना उसके हृदय मे बलवती हो जाती है। ऐसे गुणो को देने वाली विद्या के प्रारम्भिक स्वरूप का बीजाकुर जिस विद्यार्थी मे अभिव्यक्त होने लगता है, वह कभी भी अनुशासन का उल्लघन नहीं करता है। वह किसी बाहरी आतक से अनुशासन को नही मानता है बल्कि अपनी आन्तरिक इच्छा से अनुशासित होता है। उसका अनुशासन आत्मानुशासन बन जाता है। व्यक्ति एव समाज के जीवन मे अनुशासन का बहुत बडा महत्त्व माना गया है। प्रत्येक क्षेत्र मे यदि अनुशासन व्याप्त हो जाए तो जीवन की सुव्यवस्था का कहना ही क्या? अनुशासन की आधारशिला पर तो एक राष्ट्र अपने स्वतत्र अस्तित्व एव उच्चतम विकास का निर्माण कर सकता है।

अभिप्राय यह है कि विद्यार्थी की निष्ठा यदि विद्या के फलितार्थ के साथ सच्चाई से जुड जाए तो सभी ओर गुणसम्पन्नता का वातावरण बनाया जा सकता है तथा मुक्ति के आदर्श को मूर्त रूप प्रदान किया जा सकता हे।

वर्तमान शिक्षा पद्धति तथा शिक्षक–शिक्षार्थी का तालमेल

व्यावहारिक शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध मे भी शिक्षाशास्त्रियो मे-बड़ा मतभेद था। कोई शिक्षा का उद्देश्य बालक को किसी दिशाविशेष मे ले जाना मानता था तो कोई बालक का निर्माण राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार करना। किन्तु शिक्षा के मनोवेज्ञानिक पथ पर जिन्होने गहरा अध्ययन किया उन्होने अपना मत प्रकट किया कि शिक्षा का उद्देश्य बालक का इन्द्रिय–विकासमात्र होना चाहिये। इन्द्रिय–विकास का अर्थ यह कि बालक

की चेतना का विकास– उसके सामर्थ्य का जागरण। सीधी भाषा मे कहे तो यह कि बालक को जो शिक्षा खडा करदे, सन्नद्ध बना दे, वही पर्याप्त है। बालक स्वतत्र होकर स्वय ही अपनी दिशा का निर्णय ले।

शिक्षा के इस उद्देश्य को मानते हुए भी आज जिस प्रकार की शिक्षापद्धति प्रचलित है, वह बालक को किसी अर्थ मे समर्थ नही बनाती तथा न ही उसके जीवन मे स्वतत्रता एव स्वावलम्बन की प्रेरणा देती है। भारतीयो मे दासता की वृत्ति को जीवित बनाये रखने की दुर्भावना से अग्रेजो ने जिस शिक्षा पद्धति का निर्माण किया था, स्वतत्रता प्राप्ति के इतने वर्षो बाद भी उसमे वाछित परिवर्तन नही किये जा सके है। उस शिक्षा पद्धति की छाया मे पलकर गुणसम्पन्नता की उपलब्धि तो दूर– छात्र प्रारभ मे ही दुर्गुणो को चुन–चुन कर अपनाने लगता है। आप सभी जानते हैं कि आज का विद्यार्थी–जीवन कितना विपथगामी बना हुआ है।

आधुनिक परिवेश मे शिक्षण की जो स्थिति दृष्टिगत हो रही है, वह अनुशासन एव विनय से रहित ही दिखाई देती है। अनुशासन एव विनय के सद्गुण ओझल क्यो हो रहे हे? इसका कारण है कि शिक्षापद्धति मे अब भी उन आदर्शो का समावेश नही है, जिनका सम्बन्ध विद्या के सच्चे स्वरूप से होता है। इसी दोषपूर्ण शिक्षापद्धति का कुप्रभाव है कि किसी भी स्तर पर शिक्षक और शिक्षार्थी का तालमेल स्वस्थ नही है। शिक्षार्थी सर्वत्र विनयावनत न हो, वह भी सही लेकिन शिक्षक के प्रति भी उसके हृदय मे विनय न रहे तो इससे शिक्षक के चरित्र का तथा ग्रहण की जाने वाली शिक्षा का किस रूप मे मूल्याकन किया जाए?

शिक्षक एव शिक्षार्थी का तालमेल शिक्षा की स्वस्थ पद्धति मे ही उपयुक्त रूप से बैठ सकता है। विद्या से विनय तभी मिलेगा, जब शिक्षक का चरित्र ऊचा होगा तथा शिक्षापद्धति गुणाभिमुखी होगी। इसी अवस्था मे व्यावहारिक शिक्षा सफलता देगी और वही आगे जाकर आत्मिक शिक्षा की अनुप्रेरणा प्रदान करेगी।

सच्चा विद्यार्थी ही सच्चा नागरिक एवं सच्चा साधक बनता है

सच्चा विद्यार्थी कौन? वही जो सच्ची विद्या सच्ची निष्ठा से ग्रहण करता हे। जिसमे वृद्धजनो, शिक्षको एव गुरुजनो के प्रति विनय है, वह विद्यार्थी अपने समूचे जीवन मे अनुशासन को भव्य रूप से स्थान देता है। शिक्षापद्धति यदि विनय एव अनुशासन को प्रेरणा देने वाली हो तो उसमे प्रतीति भी अवश्य उत्पन्न होगी। इसीलिये सकेत दिया गया है कि विद्या से

विनय आता है तो विनय से प्रतीति उत्पन्न होती है कि विद्या व विनय मिलकर व्यक्ति की योग्यता तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इसलिये सच्चे विद्यार्थी का लक्षण विनय एव अनुशासन माना गया है। ऐसा सच्चा विद्यार्थी ही आगे जाकर सच्चा नागरिक एव सच्चा साधक बनता है।

आज का विद्यार्थी कल का राष्ट्र–निर्माता होता है। सच्चा विद्यार्थी ही जब जीवन की जिम्मेदारियो को ग्रहण करता है तो वह नागरिक के नाते अपने कर्तव्यो का निर्वाह पूरी निष्ठा के साथ करता है। कल्पना कीजिये कि यदि सारे नागरिको की वृत्ति कर्तव्यो के प्रति जागरूक बन जाए तो क्या वह राष्ट्र स्वर्गतुल्य नही बन जाएगा?

ऐसा ही विद्यार्थी जब ससार से विरक्त होकर आध्यात्मिक मार्ग पर अपने चरण रखता है तो वह निश्चय ही सत्य का साधक बनेगा। साधु कही ऊपर से नही टपकते वे वर्तमान समाज से ही आते है। यह सही है कि वे वैराग्य भावना से ससार को छोडते हैं लेकिन सम्पूर्णतया उस ससार के सस्कारो को छोडकर थोडे ही आते हैं? यदि ससार मे सुन्दर सस्कारो के निर्माण की व्यवस्था है तो उन सस्कारो के साथ दीक्षित होने वाला साधना के क्षेत्र मे भी सुन्दर प्रगति करेगा। वस्तुत ससार एव धर्म के क्षेत्र पृथक्–पृथक् नहीं होते, वे अन्योन्याश्रित होते हैं तथा इस दृष्टि से ससार के सामान्य वातावरण का सुधार भी अभीष्ट होता है ताकि उसकी सही प्रतिच्छाया आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी सही वातावरण की पृष्ठभूमि बना सके। इसके लिये शिक्षाप्रणाली मे अपेक्षित सुधार लागू किये जाने चाहिए ताकि आरम्भिक जीवन मे ही बालक को सच्चा नागरिक एव सच्चा साधक बनाने के लिये समर्थता के सस्कार प्रदान किये जा सके।

शिक्षा प्रणाली की गुणवत्ता का अंकन उसके फल से किया जाए

जैसे किसी वृक्ष का महत्त्व उसके फल के स्वाद से आका जाता है उसी प्रकार शिक्षाप्रणाली की गुणवत्ता का अकन उसके फल से किया जाना चाहिये और यही सामान्य पद्धति है। आपको मलमल लेनी है तो आप जानते हैं कि बढिया मलमल किस मिल की होती है और उसी मिल की पहिचान से उस मलमल को खरीदते हैं तो मिल की ख्याति किसा आधार पर हे? मिल की ख्याति उसके उत्पादन से होती है। उसी प्रकार शिक्षाप्रणाली की गुणवत्ता भी उस के उत्पादन से जाननी होगी कि उस प्रणाली मे प्रशिक्षित विद्यार्थी किस चरित्र के साथ तैयार होते हैं? इसी लक्ष्य के साथ मेरी राय मे वर्तमान शिक्षाप्रणाली मे कुछ प्रभावकारी सशोधन इस रूप मे किये जाने चाहिए।

विद्या से विनय की प्राप्ति हो– यह पहली बात है, कारण वैसी प्रणाली से ही अनुशासन के भाव मूल मे ही जम जायेगे ओर वे विनय तथा अनुशासन के भाव विद्यार्थी के सम्पूर्ण जीवन मे परिवर्तन ला देगे। वह परिवर्तन निश्चय ही समाज, राष्ट्र व विश्व के वातावरण मे शुभ परिवर्तन लाएगा ही।

शिक्षापद्धति मे इस उद्देश्य के लिये नकल की भावना खत्म हो जानी चाहिये। पश्चिम से जो आता है, सब सोना होता है– यह मोहनिद्रा टूट जानी चाहिये। गुण सभी स्थानो से लिये जाये, लेकिन अपना निजत्व उनमे प्रमुखता से कार्य करना चाहिये। इस दृष्टि से हमे अपनी गुरुकुल पद्धति को स्मरण करना चाहिये तथा उसके मूलाधार पर ही नई शिक्षापद्धति निर्मित होनी चाहिये। इससे विद्यार्थी की कुशाग्रता बढेगी, उसमे श्रेष्ठ चारित्र का निर्माण होगा तथा शिक्षक एव शिक्षार्थी परस्पर एकाकार हो सकेगे। नई शिक्षापद्धति मे धार्मिक व नैतिक शिक्षा का भी अपना स्थान होना चाहिये ताकि भावी जीवन मे नैतिकता की बुनियाद मजबूती से टिकी रहे।

शिक्षापद्धति ऐसी न हो जो प्रशिक्षित बेकारो की फौज खडी करती रहे। एक दूरदर्शी योजना होनी चाहिये कि किस क्षेत्र मे कितने प्रशिक्षितो की आवश्यकता होगी तथा अपनी रुचि एव कुशाग्रता के आधार पर किस छात्र को किस क्षेत्र मे प्रशिक्षित किया जाए? आज जैसे कभी इजीनियरो की बेकारी बढ जाती है तो कभी डॉक्टरो की– इसमे दूरदर्शिता की कमी होती है। पढ कर विद्यार्थी बेकार रहे– वह अधिक मानसिक सन्ताप का कारण बन जाता है, बल्कि शिक्षा का नियोजन-क्रम इस प्रकार होना चाहिये कि बेकार भी अपने स्तर पर किसी-न-किसी उपयोगी काम मे लगाया जाए। जब ऐसी सुव्यवस्थित पद्धति होगी तो सर्वत्र श्रम की महत्ता स्थापित हो जाएगी। शिक्षा का ही यह दिशानिर्देश होना चाहिये कि प्रत्येक नागरिक को अपना निर्वाह स्वय के उपयोगी श्रम के आधार पर चलाना होगा। ऐसी अवस्था मे ही श्रम के शोषण की वृत्ति समाप्त की जा सकेगी।

शिक्षापद्धति की मूल प्रेरणा यह होनी चाहिये कि विद्यार्थी सारे वातावरण को देखते हुए गुण–सम्पन्नता को सर्वाधिक महत्त्व दे तथा समाज व राष्ट्र के धरातल पर उसके व्यावहारिक जीवन मे भी गुणवत्ता का ही मूल्य प्रमुख रूप से आका जाना चाहिये। इससे समाज व राष्ट्र की कार्य–पद्धति मे आज जो दुराचरण व भ्रष्टता समाई हुई है और पैसे का जो प्रभाव सबसे ऊपर चलता है, उसका चलन बन्द होने लग जाएगा।

गुण तथा योग्यता प्रत्येक क्षेत्र के लिये निर्णायक बिन्दु होने चाहिए। सासारिक वातावरण को इस रूप मे सुधार सकने की अपनी क्षमता तथा गुणवत्ता के आधार पर ही शिक्षापद्धति के स्वरूप का सगठन किया जाना चाहिये तथा फल को देखते हुए सही फल लाने की नजर से उसमे अनुकूल सशोधन किये जाते रहने चाहिये।

विद्या को बाझ न रहने दें, उसे मुक्ति की दिशा में फलवती बनावें

सच्ची विद्या किसी भी क्षेत्र मे बाझ नही रहेगी। उसका अनुकूल प्रभाव विद्यार्थी के जीवन मे अवश्य ही दिखाई देगा। प्रश्न यही है कि शिक्षा का लक्ष्य साफ हो, शिक्षापद्धति उद्देश्यप्राप्ति के अनुरूप हो तथा शिक्षक शिक्षार्थी एव शिक्षालयो मे एकरूपता एव सामजस्य की व्यवस्था हो। यदि विद्या पढकर भी उसका समुचित फल विद्यार्थी के जीवन मे न दिखाई दे तो यही समझिये कि उस पद्धति मे कही-न-कही दोष रहा हुआ है जिसको दूर करने की तत्परता बरती जाए। यह विद्यार्थी का दोष नही है कि विद्यालय के बाद उसका जीवन कैसा बनता है, बल्कि यह राष्ट्र के कर्णधारो, समाज के नेताओ, शिक्षको तथा अभिभावको की जिम्मेदारी है कि वे किस प्रकार के विद्यार्थी तैयार करते हैं?

अत सभी उत्तरदायी क्षेत्रो मे यह सजगता उत्पन्न हो जानी चाहिये कि शिक्षा के उद्देश्यो के अनुकूल परिवर्तन लाने मे अब विलम्ब नहीं किया जाए। शिक्षा का मूल उद्देश्य यह है कि वह सर्व प्रकार की मुक्ति की दिशा मे फलवती बने। इस दृष्टि से मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन तक भी विद्यार्थी बना रहता है और अपनी सम्पूर्ण मुक्ति की साधना करता रहता हे। आप विद्यार्थी तथा आपके जीवन को बनाने वाले सभी उत्तरदायी वर्ग शिक्षा के इस उद्देश्य को समझकर नई पद्धति ढाले तथा आप उस विद्या को मुक्ति की दिशा मे फलवती बनावे— यही मेरी कामना है।

*****

17

आत्मिक अनुशासन का मूल्य

अश्वसेन नृप कुल तिलो रे, वामादे नो नन्द।
चिन्तामणि चित मे बसे रे, दूर टले दुख दन्द।।
जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द

जीवन मे उज्ज्वलता-प्राप्ति के लक्ष्य हेतु पार्श्वनाथ परमात्मा को वन्दन का प्रसग है। जीवन की प्रारभिक भूमिका वन्दन है। वन्दन मे अनेको गुण समाये हुए है। वन्दन का मूल विनय होता है तो वन्दन से विनय की कोमलता बढती है। विनय के अन्तर्गत ही अनुशासन की पद्धति का विकास होता है।

जहा विनय है, वहा अनुशासन है और जहा अनुशासन होता है, वहा प्रत्येक क्षेत्र मे तथा प्रत्येक प्रवृत्ति मे व्यक्ति का जीवन सुव्यवस्थित बनता है। विनय और अनुशासन– ये दोनो जीवन की साधना के मूल अग माने गए हैं और इसी दृष्टि से इन दोनो आत्मिक सद्‌गुणो का मूल्य आका जाना चाहिये।

विनय और वन्दन का अभिन्न सम्बन्ध

वन्दन का अर्थ है नमस्कार करना– झुकना। विवेकपूर्वक जब कोई झुकता हे तो अवश्य ही वह किसी स्वरूप से– किसी गुण से प्रभावित होता हे। यही प्रभाव मन मे नम्रता को जन्म देता हे, तब भावना मे जिस विनय का प्रवेश होता हे, वही विनय बाह्य प्रक्रिया मे वन्दन के रूप मे दिखाई देता है। इस दृष्टि से विनय एव वन्दन का अभिन्न सम्बन्ध है कि विनय के बिना किया गया वन्दन निरर्थक होगा। विनय की भावना एव वन्दन की क्रिया साथ मे जुडकर ही वन्दन को वास्तविकता प्रदान करती है। विनय से वन्दन होता हे तो वन्दन से विनय का सद्‌गुण विकसित बनता है।

ससारी आत्माओ के लिये सामान्य रूप से पाप या दुर्गुण तो जेसे स्वभाव मे आ गये हें यानी कि वे विभाव रूप मे चलते हैं और उनके लिये सद्‌गुणो की उपलब्धि अभ्यास एव साधना से ही सभव वनती हे। इसी प्रकार विनय का सद्‌गुण भी विना साधना के साधा नही जा सकता। मनुष्य के मन

मे मान ने जो स्थान घेर रखा है उसे वहा से हटाये बिना विनय की प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है? मान कितना बडा दुर्गुण है तथा उसने ससारी आत्माओ को किस प्रकार अपने वश मे कर रखा है– इसका कम–ज्यादा अनुभव बहुत-सो को है। कुछ भोतिक प्राप्तिया हो जाती हैं कोई छोटा-बडा पद मिल जाता है अथवा कुछ ऊची शिक्षा तक चढ गये तो मनुष्य का मन मान से भर जाता हे और वह उस मान मे अपने को ही सब-कुछ मानकर दूसरो की अवहेलना करने लग जाता है। यहा तक कि कुछ व्यक्ति धार्मिक क्षेत्र मे भी थोडी-बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं– यदि वे भी विवेक नहीं रखे तो मान उनका भी पीछा नही छोडता है।

ऐसे मान को जो अपने मन से निकाल देता है, वही विनय के गुण को ग्रहण कर सकता है। मान मे जो अकड होती है– सिर तान कर चलने और बर्ताव करने की जो आदत होती है, वह तभी छूटती है, जब मन मे नम्रता के भाव आते हैं। जिसका मान नम जाता है, वही नम्र बन सकता है और कोई भी नम्र बनता है अपने से किसी महान् व्यक्ति के सामने ही। इसी कारण वन्दन को विनय का साधन माना गया है। वन्दन परमात्मा को किया जाता है, गुरु को किया जाता है और अपने से बडो को किया जाता है तो जब वन्दन किया जाता है, मन की वृत्तिया मृदुल बनती हैं और काया नमन करती है। यह वन्दन का अभ्यास ज्यो–ज्यो गहरा बनता जाता है विनय का सद्गुण भी मन मे स्थायी रूप से बस जाता है।

विनय धर्म का मूल होता है

महावीर प्रभु ने उद्घोषणा की कि विनय धर्म का मूल होता है– विणयो धम्मस्स मूल। विनय को धर्म का मूल क्यो कहा गया है तथा धर्म क्या होता है? सीधे-सादे शब्दो मे धर्म कर्तव्य का नाम है। वे कर्तव्य जिनसे आत्मा हलकेपन का अनुभव करे– जिनसे उसके भीतर से आनन्द का झरना फूटे। उन कर्तव्यो का चाहे नैतिकता के रूप मे पालन किया जावे– चाहे आध्यात्मिकता के रूप मे– वे मनुष्य के मन को सन्तुलित एव उन्नत बनाते हैं। ऐसे धर्म का मूल विनय को बताया गया है।

धर्मरूप कर्तव्यो का आन्तरिकता के साथ तभी पालन किया जा सकता है, जब मन में विनय का भाव प्रबल बना हुआ हो। विनय का अर्थ होता है विशेष रूप से झुकना अर्थात् मान को मोड कर सुद्गुण को ग्रहण करने की कोमल वृत्तियो का निर्माण। शरीर और मन मे जब मृदुलता छा जाती है तभी मनुष्य वन्दन भी करता हे एव अपने कर्तव्यो के पालन की

दिशा मे भी आगे बढता है। मन की कोमल वृत्तिया साधना की कठोरता मे परिणत होकर मनुष्य को शुद्ध रूप से आत्माभिमुखी बना देती हैं। ये कोमल वृत्तिया जहा मनुष्य को सरल चित्त वाला बनाती हैं, दूसरो के प्रति दयालु और सहयोगी भी बना देती है। इन कोमल वृत्तियो मे रम कर मनुष्य का मन जहा अपने स्वार्थों से दूर होता है तो परोपकार के कार्यों मे पूरी तल्लीनता से जुट जाता है। इन्ही कोमल वृत्तियो का वाहक होता है विनय और इसी कारण इस विनय को धर्म का मूल बताया गया है।

धर्म का मूल जिसके हाथ मे आ जाता है, उस को फिर उसके तने, टहनियो, पत्ते, फूल और फल प्राप्त करने मे अधिक कठिनाई नही रहती है। मूल को जिसने मन मे जमा लिया, वह धर्मरूपी वृक्ष को अपने भीतर अवश्य पल्लवित एव पुष्पित कर सकेगा। विनय के सद्‌गुण का इसी रूप मे महत्त्व आक कर उसे हृदय मे धारण करने का अभ्यास करना चाहिये।

अनुशासन का पालन क्यों और किस रूप में?

जीवन की मूल साधना के अग के रूप मे विनय के साथ अनुशासन का भी क्रम है। अनुशासन किसे कहते है? जो धर्म का शासन है उसका अनुसरण किया जाए— वही अनुशासन है। शासन के पीछे चलो, वह अनुशासन। धर्म का शासन क्या है? वही जो कर्तव्यो का शासन है और वास्तव मे वही जो निज की समुन्नत आत्मा का शासन है, क्योकि कर्तव्यो के अनुपालन से, धर्म की साधना से आत्मा मे जब उग्र जागृति उत्पन्न होती है और उस समय उससे जो निर्देश प्राप्त होते है मूल मे उसे ही अनुशासन कहना चाहिये। आत्मा की आवाज हे— वह अनुशासन है। जाग्रत् आत्मा के अन्त करण से जो आवाज निकलती है, वह सदा सही दिशा मे ले जाने वाली तथा उत्थान की ओर आगे बढाने वाली होती है।

आत्मा की आवाज के शासन का जो अनुसरण करता है, उसे ही अनुशासन का निष्ठावान पालनकर्ता मानना चाहिये। किन्तु जब तक किसी व्यक्ति का इतना सहज विकास नही हुआ हो कि वह अपनी आत्मा की आवाज को सुन, पहिचान व समझ सके तो उस समय वह किस अनुशासन का पालन करे? यह प्रश्न आप लोगो के मन मे उठ सकता है। जिसकी भी आत्मा की आवाज अपने से अधिक बलिष्ठ प्रतीत हो तो उस बलिष्ठ आत्मा का अनुशासन ग्रहण कर लेना चाहिये। अधिक परखबुद्धि का भी विकास न हुआ हो तो परमात्मस्वरूप का अनुशासन तो नि शक बनकर ग्रहण किया जा सकता है। जिन्होने अपने-आप को वीतराग बना लिया और जो आत्मसाधना

को परिपूर्ण बनाकर मोक्ष के वासी बन गये उनके आत्मस्वरूप को अपना पथदर्शक मान लेना चाहिये ताकि उस परम स्वरूप के प्रकाश मे सुधर्म एव सुगुरु की पहिचान करके उनके शासन मे चलने का अभ्यास बनाया जा सके।

इस प्रकार के अनुशासन का पालन आत्मवृत्तियो को उच्छृखलता से दूर हटाता हे। इन्द्रिया और मन मनमाने तौर पर ससार के विषयो मे जब तक भटकते रहते हैं मनुष्य को अपने सच्चे कर्तव्यो का भान ही नही होता है तथा भान होता भी है तो उन पर चल पाना कठिन बना रहता है अत इन्द्रियो और मन को व्यवस्थित रूप से सही मार्ग पर चलाने के लिये यह आत्माभिमुखी शासन अनिवार्य है।

अनुशासन इसी रूप मे रहेगा कि जब भी इन्द्रिया और मन सही मार्ग से नीचे उतरे कि अन्दर से उनके निरोध की आवाज उठे और वे उसे पालने के लिये बाध्य हो जाये। वे उद्दड न रहकर सयम के पालनकर्ता बन जाये। मूल रूप मे वे बाहरी झूठे आकर्षण से छूट कर अन्दर के आनन्द मे इस प्रकार रम जावे कि अन्दर की ही आज्ञा को वे सुने और उसे माने। वे आत्माधीन बन जाये, यही अनुशासन है।

विनय और अनुशासन का पारस्परिक सम्बन्ध

विनय आत्मा का गुण होता है और अनुशासन आत्मा का शासन। किसी व्यक्ति का कहीं पर शासन कैसे और कब तक चलेगा, जब तक कि उसमे कोई-न-कोई विशिष्ट गुण विद्यमान रहेगा। गुणहीन व्यक्ति सही अर्थ मे कभी शासन नहीं कर सकेगा। उसी तरह आत्मा का शासन भी तभी स्थापित हो सकेगा, जब उस आत्मा के भीतर कर्तव्य का बोध हो– धर्म की सज्ञा हो। यह बोध उत्पन्न होता है सद्गुणो के विकास से, कर्तव्य के प्रति निष्ठा–भावना से। इन सद्गुणो का मूल सद्गुण है विनय जो अपनी कोमलता के साथ सद्गुणमय पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। जहा विनय का विकास हो जाता है, वहा सच्चे अनुशासन की भी स्थापना हो जाती है। इस दृष्टि से दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध प्रगाढ़ होता है।

इसे इस रूप मे कह सकते हैं कि विनय के कधो पर चढ़कर ही अनुशासन का वर्चस्व प्रभावशाली दिखाई देता है। जो अनुशासन का भाव किसी आतक की भूमिका पर पैदा होता है, वह स्थायी नही बन सकता तथा वैसे भाव से आत्मविकास की स्थिति भी नहीं बनती है। अनुशासन का भाव जो अन्दर से पैदा होगा वह स्थायी भी बनेगा तथा आत्मजागृति का कारण

भी होगा। अन्दर से पेदा होने वाला अनुशासन सदा विनय के सद्‌गुण के आधार पर विकसित होता हे। अनुशासन मे मनुष्य को झुकना होता हे और वह झुकना जब विनय से होता हे तो वह नि स्वार्थ रूप से होता है तथा वह झुकना दूसरो का सम्बल बनता है। आतक या भय से जो झुकता हे, वह विवशता से झुकता है और भीतर ही भीतर दुर्भावनाओ का तानाबाना बुनता रहता है।

अत अनुशासन विनय की भूमिका पर आना चाहिये। मन की कोमल वृत्तियो तथा शरीर की सेवापूर्ण प्रवृत्तियो के साथ जब समुन्नत आत्मा का अनुशासन स्थापित होता है तो वास्तव मे जीवन की सम्पूर्ण साधना का वह मुख्य अग बन जाता है।

विनय एवं अनुशासन से जीवन का भव्य निर्माण

विनय और अनुशासन-रूप जीवन के इन दोनो मूल अगो की पूर्ति कर ली जाए तो मनुष्य सच्चे अर्थो मे मानव-धर्म का पालन कर सकता है, नैतिकता को जुटा सकता है तथा भव्य तरीके से जीवन का निर्माण कर सकता है। इन दो अगो की कमी जीवन की कमी है। इन दो के अभाव मे मनुष्य स्वच्छन्द बनता है और कुव्यसनो मे पडकर जीवन को नष्ट कर देता है। उसको इसका भी खयाल नही रहता है कि मैं क्या कर रहा हू? कुसगति की चपेट जल्दी लग सकती है और सुसगति का अवसर जल्दी नही आता है। इसका कारण यह है कि यह आत्मा अनादिकाल से कुसगति मे चलती रही है– वह कुव्यसनो की अभ्यस्त बनी हुई है। आत्मा को इस मार्ग से दूर हटाने के लिये विनय और अनुशासन की आवश्यकता है कि आत्मा का रुझान सद्‌गुणो की तरफ मुडे।

आत्मा यदि विनय एव अनुशासन की अभ्यस्त बन जावे तो अधिक प्रयास के बिना ही दुर्गुणो से मुक्ति मिल जाएगी तथा उसका स्थान फिर सद्‌गुण घेर लेगे। फिर तो सहसा जीवनयात्रा सही मार्ग पर चल पडेगी। पटरी पर से गाडी नीचे उतर जाए तो उसे फिर से पटरी पर चढाने की जरूरत रहती है। वापिस चढाने मे समय लग सकता हे, कठिनाइया आ सकती हैं तथा पुरुषार्थ करना पड सकता है लेकिन पटरी पर चढ जाने के बाद तो मामूली सकेत ही पर्याप्त होता है।

वैसे ही अभी जीवन की गाडी पटरी से उतरी हुई है और दुर्घटना घटने का खतरा हर समय बना हुआ है। जीवन की गाडी की क्या दुर्दशा बनी हुई है– इसका विज्ञान भी मनुष्य के मस्तिष्क मे नही आ पा रहा है। जब बूढे

व्यक्तियो के मस्तिष्क मे भी गन्तव्य स्थान का निर्णय नहीं है तो वे अपनी सन्तान को सही दिशा मे केसे मोड़ सकते हैं? वे स्वय बिना सडक के इधर-उधर गोते खा रहे हैं- कभी पगडडिया मिलती हैं मगर सडक का रास्ता नहीं मिलता है तो वे बच्चो को कैसे चला सकते हें?

आज इस सडक की जरूरत है। इस पर बच्चे भी आसानी से चल सकते हैं। बुजुर्ग उनकी उगली पकड कर प्रारभ मे चलावे लेकिन जल्दी ही वे स्वय भी चलने मे समर्थ बन सकते हे। यदि बुजुर्ग शुरू से ही ऊटपटाग रास्ते पर पड गये सो पड गये, लेकिन वे बच्चो को तो सावधानी दिला सकते हें कि में मार्ग भटक गया हू, तुम लोग सही मार्ग पर चलो। सही मार्ग पर चलने या चलाने की स्थिति ही विनय और अनुशासन की स्थिति है।

विनय और अनुशासन की स्थिति मे कमी क्यों आई है?

बच्चो मे विनय और अनुशासन की स्थिति मे कमी क्यो आई है- इसके बारे मे आपने कभी सोचा और अनुसधान किया है? इसका कारण हे बुजुर्गों के जीवन मे विनय ओर अनुशासन के व्यवस्थित रूप का अभाव। जिस परिवार मे बड़े इस मार्ग पर चलते हो तो फिर छोटो को अधिक शिक्षा देने की आवश्यकता नही होती हे। लेकिन जहा बडे और बुजुर्ग सदस्य विनय और अनुशासन की भूमिका पर नहीं चलते, वहा बच्चो मे भी वैसे ही विपरीत सस्कार जम जाते हैं। बच्चा तो केमरे की फिल्म के तुल्य होता हे जिस पर आपके चित्र उभरते जाते हें। आप यह नहीं सोचते कि जिस प्रकार के विनय एव अनुशासनपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा बच्चे से रखी जाती है, वैसे ही व्यवहार का आप भी अभ्यास करे। स्कूलो मे बच्चो से डायरी भरवाई जाती है। मैं कहता हू, बजुर्ग भी डायरी भरे कि उनके जीवन मे विनय और अनुशासन के प्रसग से कितनी नियमितता या अनियमितता है? ऐसा करने से बच्चो का डायरी भरना भी सार्थक बन सकेगा।

बच्चो में प्रारभिक सस्कार उनके माता-पिता से आते हैं। इसमे भी माता के सस्कार मुख्य होते हैं। माता-पिता यदि अपने व्यवहार मे कालापन दिखाते हैं, झूठ बोलते हैं या अन्य प्रकार से दुराचरण का सेवन करते हैं तो बच्चे म भी वैसे सस्कार पनपेगें और इसके विरुद्ध माता-पिता का व्यवहार शुद्ध व पवित्र होगा तो बच्चे मे भी विनय एवं अनुशासन के संस्कारों का समावेश हागा।

आप सभी वृद्धावस्था मे हो तव भी अपने व्यवहार को सुधारने तथा विनय व अनुशासन को अपने जीवन मे विकसित यनाने के बारे मे निराश होने

की आवश्यकता नही है। पाश्चात्य देशो की व्यर्थ की बातो की तो नकल की जाती है लेकिन महत्त्व की बातो को भुला दिया जाता है। मैने सुना है कि कई देशो मे वृद्ध भी नई–नई बातो को सीखने मे रुचि लेते है। एक देश मे १५२ वर्ष का वृद्ध अपने पडपोते के साथ स्कूल मे पढने जाने लगा। ऐसी रुचि मनुष्य के मन को कभी भी वृद्ध और निराश नही होने देती है। वृद्धो और महिलाओ के मन मे ऐसी रुचि जाग जाए तो विनय एव अनुशासन की स्थिति मे जो कमी दिखाई दे रही है उसकी पूर्ति ही नही हो जाएगी बल्कि यह स्थिति अत्यन्त विकसित बनकर जीवन को भव्य रूप दे देगी।

विनय और अनुशासन का जीवन में मूल्य

वस्तुत यह स्वय के अनुभव का ही विषय है कि जीवन मे विनय एव अनुशासन का कितना मूल्य है? ज्यो–ज्यो आचरण इस दिशा मे बढता है त्यो–त्यो इनकी व्यापकता का अनुमान होता है और जब इनका प्रभाव पीढियो तक देखा जाता है, तब समझ मे आता है कि जीवन के मूल ये दोनो अग अमूल्य हैं।

विनय और अनुशासन को अपनाने के बाद नैतिकता की वृत्ति एव प्रवृत्ति सुदृढ बनती है। जीवन-निर्वाह की यथार्थ कला तभी पनपती है और उससे ही समाज और राष्ट्र मे काया–पलट किया जा सकता है। एक स्थान पर एक घटना देखने को मिली। एक वकील रेल मे मुसाफिरी कर रहे थे। टिकिट देखने वाले ने उनसे टिकिट मागा। टिकिट निकालने के साथ एक दस का नोट भी बाहर निकल आया और नीचे गिर गया। उनको इसका ध्यान नही रहा। पास मे बैठे हुए एक व्यक्ति ने धीरे से उस नोट को उठाकर अपनी जेब मे रख लिया। इस काम को पास मे बैठे एक बच्चे ने देख लिया। बच्चे ने उससे कहा कि यह नोट उसका नही है, वकील साहब का है सो वह उसे उनको देदे। पहले तो वह व्यक्ति झगडा लेकिन बाद मे शर्मिन्दगी के साथ उसको वह नोट लौटाना पडा। एक बच्चे के नैतिक सस्कारो ने इस तरह अपनी शक्ति का परिचय दिया।

आपके बच्चे भी नैतिक सस्कारो वाले बने, अपने जीवन मे विनय एव अनुशासन को अपनावे, इसके लिये आप बुजुर्गों को चेतना होगा तथा अब भी अपने जीवनक्रम को बदलने का प्रयास करना होगा। क्या आप रोज आत्मालोचना करते हें, सामायिक ओर प्रतिक्रमण का नियम निबाहते हें और चोदह नियम चितारते हें? यदि ऐसा करते हो तो आपको अपने जीवन पर एक दृष्टि डालने का अवसर मिल सकता हे और उसके अनुसार आप अपने जीवन मे विनय

तथा अनुशासन की दिशा मे आगे बढने के लिये आवश्यक परिवर्तन ला सकते है।

पुष्ट आधारशिला तो जीवन का पुष्ट निर्माण

विनय ओर अनुशासन की आधारशिला यदि पुष्ट बन जाती है तो जीवन का पुष्ट निर्माण सरल हो जाता है। यह विनय से आने वाला अनुशासन व्यक्ति के ही जीवन को नहीं, अपितु सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन को भी परिवर्तित कर देता है। इसका मूल कारण यह है कि विनयी व्यक्ति सामने वाले के दुर्व्यवहार से विक्षुब्ध नही होता, बल्कि उसे सुधारने की दृष्टि से उसके सामने भी नम जाता हे ओर उसके दिल पर असर करता है। आप जव नम्रता दिखाते हें तो मनोभावो के विकृत न बनने से आपका तो हित ही होता हे लेकिन सामने वाला भी उस नम्रता से प्रभावित होकर अपने मे अनुकूल परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है। परिवर्तन की ऐसी सुखद धारा ही समाज और राष्ट्र को बदलती है।

आप अपने जीवन मे विनय एव अनुशासन को सच्चे हृदय से अपना कर ऐसा परिवर्तन लाइये जिससे आपके आत्मविकास की आधारशिला पुष्ट बन सके। उस आधारशिला पर फिर आपके जीवन का निर्माण स्वत ही पुष्ट बन जाएगा।

*****

18

दु·ख का हेतु अपने ही भीतर

'विश्वसेन' नृप कुल तिलो रे, वामादे नो नन्द।
चिन्तामणि चित्त मे बसे रे, दूर टले दु ख द्वन्द्व।।
जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द

पार्श्वनाथ परमात्मा की वन्दना करने के लिये कवि ने भव्य जीवो को सकेत दिया है कि पार्श्वनाथ पारस के समान है। वे चिन्तामणि के तुल्य हैं कि जिसके चित्त मे बस जाते हैं तो उस चित्त के जितने भी दु ख और द्वन्द्व होते हैं वे दूर भाग जाते है। परमात्मा को अपने अन्त करण मे बसाना अपार समाधियो को हृदय मे प्राप्त करना है। प्रभु के बिराजने से सारे कष्ट–क्लेश स्वत ही नष्ट हो जाते हैं।

अपने हृदय के आसन पर प्रभु को विराजमान कैसे करें?

किन्तु प्रश्न यह है कि इन परमात्मा को अपने अन्त करण मे किस प्रकार बैठावे– अपने हृदय के आसन पर प्रभु को विराजमान कैसे करे? पहले सोचिये कि प्रभु कहा है– किस स्थल पर है, जहा से उनको उठाकर हृदय के आसन पर बिठा सके? इस प्रकार का प्रश्न मनुष्य के मन मे खडा हो सकता है, लेकिन इस प्रश्न का समाधान तात्त्विक चिन्तन के माध्यम से ही प्राप्त हो सकेगा।

पार्श्वनाथ अथवा अन्य तीर्थंकर देव जिन्हे हम परमात्मा के नाम से सम्बोधित करते है, वे तो सिद्धक्षेत्र मे विराजमान है और वही पर प्रतिष्ठित है। न वे यहा आते है और न कोई उन्हे यहा बुला सकता है और इस दृष्टि से न कोई उन्हे अपने अन्त करण मे बिठा सकता है। परमात्मा अपने ज्ञान मे ससार को देखते है, किन्तु ससार मे पुन कभी भी नही आने वाले है। उनमे इतनी अनन्त शक्ति है कि वे सारे ब्रह्माड को गेद की तरह फेक दे, लेकिन वे निरन्तर अपनी वीतराग दशा मे रमण करते रहते हैं।

परमात्मा तो सिद्ध क्षेत्र के अविचल वासी है, लेकिन उनका पावन स्वरूप तो सम्पूर्ण ससार के सामने स्पष्ट है और खास तौर पर जो आत्म–स्वरूप

के गहरे चिन्तन से परमात्म–स्वरूप का ध्यान लगाते हैं, ये अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण कर्ममुक्ति के वाद आत्मा जिस उज्ज्वलतम स्वरूप का वरण करती है, वही सच्चे अर्थो मे परमात्म–स्वरूप होता हे। उस परम पावन स्वरूप को हृदय मे वसाना ही अन्योक्ति से प्रभु को अपने हृदयासन पर विराजमान करना हे।

परमात्म–स्वरूप भी हृदय मे कव वसता है? ससारी आत्माओ के लिये यह स्थिति भी साधना से साध्य होती हे। जव मनुष्य अपने वर्तमान जीवन पर दृष्टिपात करता है, उसकी आलोचना करना सीखता है तभी अपने आत्मस्वरूप पर चिन्तन करने की वृत्ति भी वनाता हे। यह चिन्तन ही उसे भीतर देखने की दृष्टि देता है जिस दृष्टि से वह अपने स्वरूप को भी देखता है तथा परमात्म–स्वरूप को भी देखता है। इस दृष्टि के विकास के साथ ही यह आन्तरिक अनुभूति होने लगती है कि प्रभु अपने हृदय के आसन पर विराजमान हो गये हैं।

परमात्मा का स्वरूप अपने ही भीतर मौजूद है!

इससे भी ऊपर सत्य यह हे कि परमात्मा का स्वरूप कही वाहर से नहीं आता, वह तो अपने ही भीतर मोजूद रहा हुआ हे। यदि ऐसा नही होता तो ज्ञानी जन प्रभु को अपने हृदय मे वसाने की वात नही कहते। चिन्तन के क्षणो मे जब आन्तरिक अनुभूति सुस्पष्ट वनती है तो ज्ञात होता है कि परमात्मा का स्वरूप हमारे अपने ही पास उपलब्ध हे, उसे सिद्धक्षेत्र से अथवा किसी अन्य स्थान से उठाकर लाने की आवश्यकता नही हे। बुलाने के लिये कष्ट करने की भी जरूरत नहीं है और न ही कवि का ऐसा सकेत है। कवि तो नय की दृष्टि से कथन कर रहे हैं। उनका कहना है कि जो परमात्म–स्वरूप आपके ही भीतर रहा हुआ हे, उसे प्रकट करना ही प्रभु को अपने अन्त करण में बिठाना है।

सोचिये कि आप कौन हैं? आपसे पूछा जाए कि यह हाथ किसका है तो आप बतायेगे कि यह हाथ मेरा है। आपका हाथ आपके कितना नजदीक है? आपका पैर भी कितना समीप है? आपकी आखे आपसे नजदीक हैं कि दूर? आप कहेगे कि नजदीक हैं। उसी तरह कान आपसे नजदीक हैं या दूर? वे भी नजदीक हैं। यहा पर अन्य मनुष्य बैठे हैं, इनकी अपेक्षा आपके शरीर के अग आपके अधिक नजदीक हैं, लेकिन आपको गहराई के साथ अनुभव होगा कि परमात्मा इन सबसे भी अधिक आपके नजदीक है। आपके लिये यह आश्चर्य की बात होगी कि आप इन अग–प्रत्यगो को देख रहे हैं–

इनको अपना समझ रहे हे, किन्तु अत्यन्त समीप मे रहे हुए परमात्मा को पहिचान नही रहे हैं।

आपकी अपनी आत्मा का जो तत्त्व है, वस्तुत मूल मे वही परमात्मा का तत्त्व हे। वह तत्त्व सासारिक कामनाओ और वासनाओ के नीचे दब गया हे, इस कारण अपने ही भीतर मोजूद स्वरूप दिखाई नही देता। बाहरी पदार्थो की उलझने इतनी टेढी बन गई हे कि अपने ही भीतर झाकना भूल गये हैं तथा सोचते हे कि परमात्मा कहा हैं तथा उसे अन्त करण मे केसे बैठावे? विपरीत स्थिति यह हे कि भ्रमित–मति इन्सान दु खो के भारी दलदल मे फसा हुआ हे।

अनन्त आनन्द को भूलकर अपार दुःखों को क्यों भोग रहे हैं?

जेसे एक नादान व्यक्ति के पास अनमोल हीरा हो, लेकिन उसकी कीमत नही पहिचानने से वह उसको केवल काच का टुकडा समझता है, अज्ञानवश लाखो रुपयो की सम्पत्ति पास मे होने के बावजूद वह भूखो मरता हे। कारण हीरे को वह हीरे के रूप मे पहिचनता ही नही है। उसी तरह अपने ही परमात्मस्वरूप को नही पहचानने के कारण यह आत्मा इस ससार के बाह्य पदार्थो के लिये भटकती हे। यह इस आत्मा का भारी अज्ञान हे। जिस परमात्मस्वरूप को चीन्ह कर अनन्त आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता हे, उसे ही भूल कर वह अपार दु खो को भोग रही हे। ऐसी ही अज्ञान दशा के कारण सारा विश्व नाना प्रकार के दु खो मे उलझा हुआ हे।

कोई भी मनुष्य हकीकत मे एक पल के लिये भी दु ख को नही चाहता हे फिर भी इस ससार म वह प्रतिपल दु खो को भोग रहा हे। जानते हे कि एसा क्या होता हे? मनुष्य दु ख चाहता तो नही हे, लेकिन वह काम दु ख पेदा होने के करता हे तो भला फलरूप मे दु ख पेदा हुए विना केसे रहेगा? और यह दु खो का फल मिलता ही रहेगा जब तक अपने ही भीतर रहे हुए परमात्मस्वरूप को न पहिचान ले ओर उसे प्राप्त करने की तीव्र आकाक्षा ना बना ले।

महावीर प्रभु ने संकेत दिया हे कि इस आत्मा के लिये दु ख अहितकर हे। कार्य उतना अहितकर नही होता यदि कारण अहितकर नही हे। दु ख स्वय अहितकर नही हे जितने कि दु ख के कारण अहितकर होते हे। यदि कारणो को ही नही समझा जाए और उसको अपनाकर चला जाए तो कार्य अवश्य ही वैसा बनेगा। ससार के ये सारे दु ख उनके कारणो से सम्बन्धित हे। भगवान [illegible] इस दृष्टि से सम्बोधन यही हे कि

दु ख के कारणो को जाना जाए क्योकि वे ही उनके लिये अत्यन्त अहितकर हैं। कारण को न समझ पाने से ऐसा दु ख का कार्य वनता है, जिससे मनुष्य व्याकुल होकर अपनी चेतना को अधिकाधिक शिथिल वनाता जाता है।

कारणो को न समझना तथा समझ कर भी उन्हे दूर नही करना— यही आत्मा का सबसे बड़ा अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण वह अनन्त आनद को भूल कर अपार दु खो को भोग रही है। दु ख के हेतु के विरुद्ध आत्मा का ज्ञान तथा साधना का चरण गतिशील वनना चाहिये।

दुःख के हेतु को पहिचान कर उसे दूर करे तो दुःख नहीं होगा

दु खो के कारणो को कैसे पहिचानें? वे कारण कहा हैं— दूर हैं या नजदीक हैं? सामान्यतया यह सोचा जाता है कि अमुक—अमुक व्यक्ति उसके दु खो के कारण हैं— यह पत्नी मुझे कष्ट देती है— यह पुत्र मुझे सुख नही देता अथवा वह पडोसी मुझे दु खी वनाता है। समीप मे रहने वालो को उनके विभिन्न व्यवहारो के कारण कोई अपने दु खो का कारण मान लेता है। यदि पडौसी का स्वभाव दु ख देने का है तो देखिये कि क्या वह सभी को दु ख देता है? जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना होता है तो जो भी उसका स्पर्श करेगा उसको वह जलाएगी। यदि पड़ौसी का स्वभाव सबको दु ख देने का नहीं है तो आपको अपने ही लिये सोचना पड़ेगा। परिवार के सदस्य भी प्राय दु ख नहीं, शान्ति देने की चेष्टा करते हैं। फिर भी आपको उनसे दु ख का अनुभव होता है तो आपको अपने ही ऊपर चिन्तन करना होगा। इसका अर्थ यह निकलेगा कि आपके ही भीतर दु खो के कारण विद्यमान हैं, जिन्हे आप समझते नहीं हैं और वे कारण ही एक या दूसरे का निमित्त पकड कर आप को बरावर दुःखी बनाते रहते हैं।

दु खों के वे कारण आपके ही भीतर घुसे हुए हैं, जिनसे आपके मन की विचित्र दशा बनी हुई है। मन की दशा विचित्र इसलिये कि दु ख पाते हुए भी उसके कारणो का ज्ञान नही होता तथा उस अज्ञान-अवस्था मे अधिकाधिक दु खो की सृष्टि होती रहती है। इस अवस्था मे परमात्मा की समीपता भी दूर होती जाती है। पड़ोसी की नजदीकी से अलग हट रहे हो परिवार के सदस्यो से दुश्मनी बाध रहे हो और परमात्मा की समीपता को भी खो रहे हो ऐसा अज्ञान क्या आप को पतन के गहरे गर्त मे नहीं गिरा देगा?

वास्तविक कारणो को न समझ कर उन कारणो का आरोप दूसरो मे किया जाता है तो अकारण मन मे उनके प्रति वैर—विरोध एव राग—द्वेष की दुर्भावना पैदा होती है *और उससे विकारी भाव इतने कलुषित बन जाते हैं कि*

वे अशुभ भाव नये-नये भावी दु खो के कारण बन जाते है। ऐसे अहितकर कारणों के अधीन बन कर मनुष्य एक जीवन मे ही नही– जन्म-जन्मान्तर के लिये दु खो की लडी बाध लेता हे। उन्ही कारणो की गति निरन्तर चलती रहती हे तथा फलस्वरूप दु खो का क्रम भी बराबर चलता रहता है।

इसीलिये प्रभु का सकेत है कि दु खो के हेतु को पहिचानो, समझो तथा समझकर उन हेतुओ को हटाने की चेष्टा करो, जिससे दु खो का क्रम बन्द हो जाए। दु ख भोगो और उसके कारणो की जानकारी नही लो तो उन दु खो को दूर करने का प्रयास सफल ही कैसे बन सकता हे?

दुःखों का हेतु तथा परमात्मा का आसन भी भीतर ही है

भव्य जन पार्श्वनाथ प्रभु को चिन्तामणि समझते है तथा सोचते हैं कि वह चिन्तामणि अपने हृदय मे बेठ जाए तो फिर दु ख का एक भी हेतु शेष नही बचेगा। यह विचार उठ सकता हे कि चिन्तामणि प्रभु को कहा प्रकट करे? उन्हे अपने अन्त करण मे ही प्रकट करना है क्योकि यह अन्त करण या अन्तरात्मा ही वह स्थान हे, जहा दु खो का हेतु रहा हुआ हे जिसे अज्ञान के कारण पहिचानना कठिन हो रहा हे। तो, यही वह स्थान है जहा परमात्मा का भी आसन लगा हुआ हे। ज्यों ही दु खों के सही हेतु को पहिचान लेते हैं ओर उस दूर कर कर देते हें तो दु ख मिटने लगते हे। दु खो के दूर होने पर आनन्द की धारा प्रवाहित होती हे, तब हृदय के आसन पर विराजमान परमात्मा प्रकट हो जाते हें अर्थात् यही आत्मा पवित्रता के साचे मे ढलती हुई परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने की दिशा मे अग्रसर बन जाती हे।

इस उद्देश्य से मन मे नया परिवर्तन लाना होगा। उसमे जिन मलिन भाव का प्रादुर्भाव होता हे, उनके शमन का यत्न किया जाना चाहिये। मन पर ऐसा निग्रह किया जाए कि विकृत भावो म कमी आवे। जो परमात्मा को भीतर बिठाने की कोशिश करते हैं, व भीतर अलीते–पलीते को दूर करके दु ख के कारणों को हटाते हैं, स्वय शमन करते ह तथा दूसरो का जलाने वाली आग का भी शान्त करत हैं। दु ख क कारण जब हट जाते ह तो वहा स्वत ही सुख क कारण पेदा हो जाते ह जिनका परिणाम सुखरूप म प्रकट होने लगता हे। जिस मनुष्य क मन म परमात्मा के पवित्र स्वरूप का ज्ञान अत्यधिक निकटता स हो जाता हे, फिर वह पापो के जाल मे नही उलझता हे ओर निमित्त पाकर पहले के जाल का भी समाधान कर लेता हे। भूल का हो जाना स्वाभाविक ह लेकिन वह शुद्ध मन से भूल को भूल मानकर उसका वहीं परिमार्जन कर लेता हे लेकिन भूल को पकड कर घसीटता नही ह। भूल को भूल न मानकर

मनुष्य उसका दोषारोपण अन्यत्र करता है, तब वह अपने मन मे उत्तेजना लाकर प्रतिशोध के भाव पैदा करता है और दु खो के कारणो को सजीव बनाता है। परमात्मस्वरूप को समझ लेने वाली प्रवुद्ध आत्मा ऐसे कारणो को पैदा ही नहीं होने देती है।

भीतर मे या तो दु ख के कारण रहेगे अथवा परमात्मा का निवास हो सकेगा जिससे आनन्द की धारा वहेगी। दोनो एक साथ नहीं रह सकते। अत परमात्मा को भीतर मे प्रकट करना है तो दु खो के कारणो को भीतर से वाहर निकाल दे और दु खो को अपने लिये जड़-मूल से मिटा दे।

सन्त–समागम एव व्रतधारण से उद्देश्य की प्राप्ति

कभी–कभी भव्य जन अपने दु ख का निवारण करने के लिये सहज रूप से लग जाते हैं परन्तु जानते हैं कि भव्य जन कौन होते हैं? इसमे नगर और ग्राम निवासी होने का भेद नही है, वल्कि भव्य जन वे हैं, जिन्हे अपनी आत्मा को सुधारने वाला उत्तम वायुमडल मिलता है, सन्तो का समागम होता है तथा उनकी उपदेश धारा को श्रवण करने के अवसर आते हैं। क्या ऐसे वातावरण का मिलना पुण्य का फल नही है? सुन्दर निमित्त मिले तो उसे आत्मविकास का अवसर मिलना ही कहेगे और जो इन सुन्दर निमित्तो का उपयोग करें, उन्हे भव्य जन मानते हैं। भव्य जन इन निमित्तो का सदुपयोग करते हुए व्रत धारण की दिशा मे आगे वढ़ते हैं तथा आत्मविकास साधते हैं। सन्त समागम से वे अपनी विचार–शुद्धि करते हैं तो व्रतधारण से कर्म–शुद्धि करते हुए वे दुःखों के कारणों को समाप्त करने मे जुट जाते हैं। परिणामस्वरूप उनका यह जीवन सुखी वनता है तथा इस जीवन मे सुख के कारणा को पेदा कर लेने से उनके अगले जन्म भी सुखी वन जाते हैं।

आपके सामने एक रूपक रखू कि पाचू गाव रेत के टीलो के वीच मे बहुत एकान्त में आया हुआ है। मैं जव वहा गया ओर रहा तो वहा के भाई-बहिन बड़ी सख्या मे उपदेश-श्रवण को आते थे– यह देशनोक के लोगो ने भी देखा होगा। वहा के भाई बहिनो को आपकी तरह उपेदश-श्रवण का लम्बा अवसर नहीं मिला, लेकिन जितना-सा भी अवसर मिला, उन्होने उस उपदेश का सार निकाला और दु ख के कारणो को हटाने मे विलम्व नही लगाया। वहा के कितने ही परिवारों के वीच मे १५ वर्षो से मनमुटाव चल रहा था और आपसी व्यवहार बन्द था। उसके विषय मे मेने सकेत किया ओर उनको राग-द्वेष की परिणति मे दु खो के कारणो की वात वताई तो उन्होने उसे तुरन्त ग्रहण करली तथा वर्षों के मनोमालिन्य को मिटा दिया। ऐसी

मनोवृत्ति के धारण करने वालो को भव्य जन कहते हैं।

भव्य जन हृदय से उपदेश का श्रवण करते है और ज्ञान का प्रकाश अपने भीतर ग्रहण कर लेते है। फिर उनके हृदय मे सहज रूप से कोमल भावनाओ का प्रवाह वह निकलता है कि वे झट दु खो के कारणो को अपने हृदय से बाहर निकाल कर दूर फेक देते है। फिर व्रतग्रहण की दिशा मे भी उनकी वृत्ति मुड जाती है और कई तरह के त्याग भी वे कर लेते हैं। सन्त–समागम का भले ही उन्हे लम्बा अवसर न मिला हो– परन्तु वे छोटे अवसर से भी इतने प्रभावित हो जाते हैं कि श्रद्धा की प्रगाढता से उद्देश्यप्राप्ति की तरफ गतिशील बन जाते हैं।

त्याग से अन्तःकरण को तपाइये, सोना कुन्दन बनने लगेगा

लोग कहते है– महाराज, त्याग कैसे करे? वे त्याग से डरते है। आप जिस त्याग से डरते हैं वह त्याग बडा अमूल्य होता है। जिन्होने त्याग के मूल्य को समझा हे और उसे भावपूर्ण ग्रहण किया है, उन्होने अपने अन्त करण को त्याग की अग्नि से तपाकर उसकी सारी मलिनता को मिटा दिया। दु ख के कारणो की गहरी विकृति त्याग की आग मे ही जलकर नष्ट होती है तथा आत्मा का सोना अपनी शुद्धता मे उत्कृष्टता से निखर कर कुन्दन बन जाता है।

दु ख के जो कारण भीतर अन्त करण मे व्याप्त हो रहे हैं वे आज भी आत्मा को विकृत तथा मलिन बना रहे है। उसके कारण आगे के लिए भी दु खो के कारणो का मन पर असर बना रहा तो पूर्वजन्म के उपार्जित कर्मो का उदय आयेगा अथवा नहीं, लेकिन अभी जो कर्मबन्धन होगे, उनका दु ख–विपाक इस जीवन मे भी आ सकता हे तो अगले जन्म मे भी आ सकता हे। मेरे भाई कभी कभी रोने ओर रुलाने मे भी अच्छाई मानते हे, लेकिन आपके सामने ही पाचू गाव की पटेलन ने त्याग कर लिया हे कि वह किसी मृतक के यहा बेठने जाएगी तो न स्वय रोयेगी ओर जहा रोना चलता होगा, वहा वह नही जाएगी। क्या सभी बहन ऐसा त्याग नही कर सकती हें? मृतक के पीछे जोर–जोर स रोने का रिवाज ऐसा ह जो हृदय मे रहे हुए दु ख के कारणो का ज्यादा उत्तेजना देता हे, अत इस का त्याग करे तो वह आत्मा के लिये हितावह है।

इस तथ्य का ध्यान मे रखिए कि दु ख के कारणो का सूत्रपात अशान्ति ओर वदना स होता है तथा यह अशान्ति ओर वेदना सकारण अथवा अकारण मन की उपज होती ह। यदि यह अशान्ति ओर वेदना सकारण हे तो

उसे अपना कर्मफल मानकर शान्तिपूर्वक सहन करले तथा उससे अपने अनुभवो को मलिन नहीं होने दे। यदि वह अशान्ति और वेदना अकारण हे तो अपने मन को धिक्कारे, उसे विचारो की गलत दिशा मे से हटा कर सही दिशा मे चलावे ताकि वह गलत अनुभूति मिट जावे।

ऐसी अशान्ति और वेदना का परिणाम 'इस आत्मा क लिये भयावह होता हे क्योकि उससे होने वाली राग-द्वेष की परिणति आत्मा को अधिक मलिन बना देती है। अत त्याग के मार्ग को अपनाइये, जिससे आत्मा की मलिनता को नष्ट करके उसके स्वरूप को निखार सके तथा परमात्मस्वरूप को अत्यधिक निकटता से अपने भीतर प्रकट कर सके।

भीतर के धरातल को सुधारें, दुःख के हेतु मिट जायेगे

अपनी ही आत्मा के भीतर के धरातल पर जितने काटे हो, कूड़ा-कचरा हो, उसे पहले साफ करने मे जुट जावे। सामने वाले से केसा भी व्यवहार मिले लेकिन वह अपनी विषाक्तता से भी आपके भीतर मलिनता पेदा न कर सके– यदि इस रूप मे भीतर का धरातल सुधर जाए तो समझिये कि दु ख के हेतु अपने-आप ही नष्ट हो जायेगे।

यदि चिन्तामणि भगवान् को वुलाना और हृदय मे विठाना चाहते हैं तो भीतर के धरातल को सुधार कर कोमल भावो के सिहासन पर उन्हे बिठाइये। चिन्तामणि पार्श्वनाथ कही दूर नही हैं, आपके भीतर ही हैं। उन्हे प्रकट कर लीजिये। फिर आपके सारे दु ख–हेतु समाप्त हो जायेगे तथा मनोकामनाए पूर्ण हो जायेगी।

*****

19

आचरण की प्रधानता

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी
जे करिये भवसागर तरिये,
आतम भाव अराध रे प्राणी
सूत्र विनय आचार तपस्या,
चार प्रकार समाध रे प्राणी।

प्रार्थना मे प्रभु महावीर को समाधि भाव की दृष्टि से वन्दन किया गया है। आत्मा के इस परम स्वरूप मे आत्मा का स्वय स्थिर हो जाना ही समाधि का चरम रूप माना गया है। आत्मा जब अपने मूल स्वरूप से बाहर निकल कर इधर–उधर भटकती है, तब वह अशान्ति के वायुमडल मे गोते लगाती है, लेकिन जितना और जिस रूप मे आत्मा अपने-आप को सन्तुलित बनाकर अपने ही स्वरूप मे स्थित एव स्थिर होने का प्रयास करती है, तब उतने ही अशो मे उसे शान्ति का अनुभव होता है और वह समाधि मे पहुचती है।

समाधि–लाभ के लिये आत्मा क्या–क्या प्रयत्न करे?

वर्तमान दशा पर विचार करे तो साफ–साफ जानकारी होगी कि आत्मा का परिणाम, भाव और विचार अपने मूल क्षेत्र को छोड करके दिन-प्रतिदिन बाह्य पदार्थों की तरफ भागता रहता है। वह उन ससारी जड पदार्थों को पकडने की कोशिश करता रहता है तथा उस कोशिश मे आगे से आगे उलझता रहता है। उन विचारो को उस दशा मे न स्थिरता मिलती है और न शान्ति। क्योकि वे जड पदार्थ स्वय स्थिर नही है, उनको पकडने वाला भला फिर कैसे स्थिर रह सकता है? जो तत्त्व स्थिर हैं, शाश्वत हैं तथा शान्ति देने वाले है, यदि उनका अवलम्बन ग्रहण किया जाए, तभी उन्हे ग्रहण करने वाला स्थिर रह सकता है तथा शान्ति प्राप्त कर सकता है।

इस विराट् विश्व मे विज्ञानवान स्थिर तत्त्व यदि कोई है तो वह

आत्म तत्त्व ही है, जो अपने परम उज्ज्वल रूप मे परमात्मस्वरूप को प्राप्त करके सदा–सदा के लिये स्थिर, शान्त तथा पूर्ण रूप से समाधिस्थ हो जाता है। आत्मस्वरूप एव परमात्मस्वरूप– इन दोनो का सम्यक् रीति से अवलम्बन लेने पर ही आत्मा को सुखानुभूति हो सकती है। परमात्मस्वरूप को आदर्श रूप मे सामने रखा जावे और आत्मा को उस आदर्श का सुबोध देते हुए समाधिलाभ के प्रयत्नो मे जुटा दिया जाए तो पूर्ण समाधिलाभ की मजिल दूर नहीं रह जाएगी। आचरण के इस मार्ग पर प्रतिक्षण यह चेतना जगी हुई रहनी चाहिये कि तू अभी परमात्मा के तुल्य अपनी शक्ति को सम्पादित करले।

बहुत वर्षो से ही नहीं, सर्पिणी एव उत्सर्पिणी के अनन्त कालचक्रो के इतने दीर्घ समय से आत्मा इन ससारी पदार्थो की ममता मे पड़कर अपनी समाधि खो रही हे। किसी विचार श्रेणी मे कुछ क्षणो के लिये समाधि मिलती भी है तो उसमें स्थिरता नहीं बन पाती है। बुद्धिमान व्यक्ति कमाई करने की चेष्टा करता है तो यह बराबर ध्यान रखता है कि मूल पूजी स्थिर रहे। वैसे ही चतुर आत्मा वही होगी जो इधर– उधर के कुछ भटकाव के बाद भी अपने मूल स्वरूप को सुरक्षित रखे। सासारिक पदार्थो को अस्थायी रूप से ग्रहण भी करे लेकिन अपनी आन्तरिक शक्ति को विसर्जित नहीं होने दे।

यही भावना प्रारभिक रूप से प्रभु महावीर ने चार प्रकार की समाधियो के अन्तर्गत व्यक्त की है। समाधि होती हे आत्मा की आन्तरिक शान्ति और उसकी प्राप्ति के ये चार उपाय हैं जिनका कवि ने प्रार्थना मे सकेत दिया है। ये चारो उपाय ही समाधिलाभ के मुख्य प्रयत्न हैं। पहले उपाय-सूत्र के विषय मे कहा गया है कि ज्ञान के प्रकाश मे आत्मा की दृष्टि सजग बने, फिर समाधि के दूसरे उपाय विनय से उस दृष्टि मे मृदुलता आवे। तब तीसरा उपाय बताया गया है आचार का। ज्ञान एव मृदुता से परिपूर्ण दृष्टि तब आचरण के कठोर धरातल पर क्रियाशील बन जाए।

क्रियाशील जीवन का प्रथम धर्म होता है आचार

शुभ लक्ष्य की दिशा मे क्रियाशील बनने वाले किसी भी जीवन का प्रथम धर्म होता है आचार। सही बात जानकर और मानकर भी जो उसे आचरण मे नहीं उतारे तो वह जानना और मानना भी सार्थक नही बन सकता है। इसी कारण आचरण को प्रधानता दी गई है तथा उसे जीवन का प्रथम धर्म कहा गया है।

आचार एव व्यवहार जितना सुन्दर एव भव्य होता है वह आत्मा उतनी ही अधिक शान्ति का अपने जीवन मे अनुभव करती है। गलत आचरण

तथा गलत व्यवहार से अशान्ति एव असन्तोष की आग ही भड़कती है। बुरा व्यवहार कोई चाहे किसी भी स्थान पर करे और ऐसे स्थान पर करे जहा कोई देखने वाला नही हो तब भी वह पापकार्य ही होता है और उस पाप को भी एक तत्त्व तो देखता ही है। परमात्मा तो सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है, जिनसे कोई सत्य या कोई तथ्य छिपा हुआ नही रहता। उनकी ज्ञानदृष्टि मे सब-कुछ प्रकट हो जाता है। वे देखते है पर तटस्थ भाव से रहते है। यह तो आचरण करने वाली आत्मा का कर्तव्य है कि वह परमात्मा की ज्ञानदृष्टि को सदा ध्यान मे रखकर अपने-आप को गलत आचरण से बचावे और यथासाध्य श्रेष्ठ आचरण मे लगावे।

आचरण के आदर्श रूप मे अपने सामने सदा परमात्मस्वरूप को रखना चाहिये कि जो अविचल समाधि मे स्थित है। उस समाधि के लिये उन्होने अपने जीवन मे किस कठोर आचार का पालन किया एव अपने निज के अनुभव के आधार पर उन्होने किस आचार का ससार को मार्ग बताया, आचार के उस स्वरूप को अपने जीवन मे उतारना चाहिये। क्योंकि उसी आचार का पालन करके उन्होने परमात्मस्वरूप की एव उसकी परम समाधि की उपलब्धि की है। इस समय प्रभु महावीर का शासन है तथा उन्होने ऐसे आचार की देशना आचाराग सूत्र मे विस्तार से व्यक्त की है। वह देशना यथासाध्य रीति से जब आत्मा के आचरण मे उतरे तो उसकी वह क्रियाशीलता उसको पूर्ण समाधि की दिशा मे ही अग्रसर बनाएगी।

परमात्मा पर विश्वास करना अपनी कर्मठता पर विश्वास करना है।

परमात्मा पर जो विश्वास करना है, वह इस दृष्टि से नही कि परमात्मा आकर कुछ देगे या कुछ करेगे। उनकी ज्ञानदृष्टि मे उन्हे सब दिखता है लेकिन उनकी चिर शान्ति मे कही कोई व्यवधान नही है। इसलिये परमात्मा पर जो विश्वास करना है, वह अपनी स्वय की कर्मठता पर विश्वास करना है कि अपनी आत्मा भी आचरण के स्वस्थ धरातल के ऊपर और ऊपर उठती हुई उसी परमात्म स्वरूप को धारण करने मे समर्थ है।

जिन्होने आत्मिक स्वरूप को नही पहिचाना है– अपने ही अन्त करण का दर्शन नही किया है, वे ही सही माने मे परमात्मा पर विश्वास नही कर पाते है। परमात्मा का विश्वास अपनी ही आत्मा के विश्वास को जगाता है। एक जाग्रत् आत्मा अपने प्रत्येक विचार एव आचार की परख कर सकती है तथा अन्दर से आवाज दे सकती है कि वह विचार एव आचार सही है या गलत। कल्पना करे कि एक व्यक्ति घटाटोप अधकार वाली एक गुफा मे

बैठकर कोई पापकार्य करता है। वह जगह ऐसी हे, जहा उस पापकार्य को दूसरा तो क्या, उसकी खुद की चमडे की आखे भी देख नही पाती है। लेकिन जिसकी भीतर की आखे थोडी-बहुत भी खुली हो, क्या उसको महसूस नही होगा कि वह पापकार्य उसके लिये दु ख का कारण बनेगा? जाग्रत् आत्मा के भीतर से तुरन्त आवाज निकलेगी कि यह पापकार्य है ओर उसे परमात्मा की ज्ञानदृष्टि देख रही है। जो परमात्मा की ज्ञानदृष्टि को समझ लेता है, उसकी आत्मा की ज्ञानदृष्टि भी जाग उठती है।

परमात्मा के प्रति जिसका विश्वास नही होता, उसका आत्मविश्वास भी सोया हुआ रहता है। उसे पापकार्य करते हुए अपने ही अन्त करण की आवाज सुनाई नही देती तथा सदा उसकी चेष्टा अपने पाप को छिपाने की बनी रहती है। इसका बुरा असर यह होता है कि उसका अन्तर्मन एक प्रकार की तीक्ष्ण ग्लानि तथा अशान्ति से पीडित रहता है। वह ऐसे भव्य स्थान पर भी क्यो न पहुच जाए, जहा परमात्मा की अमृत वाणी का विवेचन चल रहा हो वह वहा भी शान्ति का अनुभव नही करता हे, क्योकि उसकी आत्मा भीतर ही भीतर उसकी शान्ति को नोचती रहती है। जैसे शरीर के अन्दर पैदा होने वाला जहरीला कीडा उसे भीतर ही भीतर नोचता रहता है और वह शरीरधारी उस वेदना को बता नहीं सकता है, वैसे ही जिसने परमात्मा के प्रति अविश्वास करके अपने आचार मे जहरीला कीडा लगा लिया है, उसके उस आचार से न तो उसको शान्ति मिल सकती है, न ही उसकी कर्मठता जाग्रत्-बनी रह सकती है।

पाप छिपाया ना छिपे और छिपे तो खोटा भाग

शायद आप लोगो के बीच मे प्रचलित कहावत यह है कि 'पाप छिपाया ना छिपे और छिपे तो मोटा भाग", लेकिन यह गलत है तथा इसे सही मानिये कि 'छिपे तो खोटा (मोटा नही) भाग।' इसका कारण है जिसकी पापकार्य को गुप्त बनाये रखने की चेष्टा कामयाब हो जाए तो उसकी आन्तरिक अशान्ति उसे भीतर ही भीतर नोचती रहती है। बुरे आचरण की ग्लानि ऐसी तीक्ष्ण होती हे कि पाप के छिप जाने के बाद वह भीतर के चैन को खा जाती है और मनुष्य अपनी शान्ति को खो देता है। वह न तो अपने पाप को प्रकट कर पाता है और न उसे पलभर को भी चैन मिलता है। पाप के खुल जाने से जो भी परिणाम हो भीतर मे ग्लानि पैदा नहीं होती। पाप को स्वय प्रकट कर देना तो आत्मशुद्धि की निशानी बन जाती है, लेकिन पाप को छिपाना और पाप का छिप जाना आत्मिक अशान्ति का कारण बन जाता

हे। इस कारण यदि पाप छिप जाए तो उसे 'मोटा' नही 'खोटा भाग्य' कहिये, जो चित्त की शान्ति को समाप्त कर देता है।

हम आचार समाधि की दृष्टि से सोचे कि हमारा आचार व व्यवहार केसा होना चाहिये तो उसका एक यह मानदड बनाया जा सकता है कि वह ऐसा होना चाहिये जिससे हमारी आत्मा अन्दर से शान्ति को नोचे नही। भीतरी ग्लानि पेदा करने वाला आचरण घोर अशान्ति भी पैदा कर देता है। यदि कदाचित् अच्छा परिपूर्ण शुद्ध आचार नही बन पाता हे तब भी जितना वन सके, उतनी ईमानदारी से आचार का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिये। इसके साथ ही जितना नही वन पा रहा हे, उसके लिये खेद-प्रकाशन करना चाहिये कि अभी इतनी कमी हे तथा उस कमी को पूरी करते रहने के लिये सचेष्ट होना चाहिये। शुद्ध आचार की कमी को खुले रूप मे प्रकट करना चाहिये कि मे यह गलती कर रहा हू– पाप कर रहा हू, उसका जिस दिन परित्याग कर पाऊगा, तव मुझे शान्ति मिलेगी। व्यक्ति इतना खयाल करले तो उसके जीवन मे शान्ति का द्वार अवश्य खुल सकता है।

एक व्यक्ति तो ऐसा होता है जो पाप करता है लेकिन उसको छिपाता नही हे और दूसरा व्यक्ति ऐसा है जो पाप करता जाता हे एव उनको छिपाने की भी कोशिश करता हे तो दूसरा व्यक्ति हकीकत मे अधिक अशान्त वनता है।

पाप से निवृत्ति तीन करण तीन योग से लें

वड़े तोर पर लीजिये कि पाप व्यक्ति स्वय करता है, तव तो उसे लगता ही ह कि वह पाप कर रहा हे। लेकिन जव वह अमुक पापकार्य दूसरो स करवाता हे तो वह समझता है कि जो पापकार्य स्वय कर रहे हे, वे ही पापकर्म का वध करगे। किन्तु जो पापकार्य दूसरो से करवाता है, वह भी पापकर्म का भागी वनता हे। एक व्यक्ति पापकार्य स्वय भी नही कर रहा हे तथा दूसरा स भी नही करवा रहा हे, लकिन तीसरा व्यक्ति जो पापकार्य कर रहा ह उस कार्य का वह किसी भी रूप मे अनुमोदन कर रहा है, तव भी वह उस पापकार्य का भागी वनता हे। अनुमादन करने वाला भी उस पापकार्य मे शरीक माना जाएगा।

उदाहरण क लिय जस गृहस्थी मे वहने रसोई वनाती हे उसम छोट-मोट जीव भी मर सकत हे तथा एकन्द्रिय जीवा का घमासान तो होता ही ह। सोचिय कि उस रसोई का पाप किसका लगेगा? आप यह सोच लेत होग कि उनका सारा पाप वहिना का ही लगता हे, जा स्वय रसोई वनाती

हैं। हम तो सिर्फ जीमते हैं ओर जीमने वाले को कोई पाप नही लगता। लेकिन याद रखिये कि वह पाप सिर्फ बहनो को ही लगने वाला नहीं हे। उस पाप के भागी आप भी हैं। उस आरभ–समारभ को भले ही आपने अपने हाथो से नहीं किया, लेकिन वह आप करवाते हें तथा यथासमय रसोई बनाकर आपको जिमाना अच्छा समझते हैं। इस कारण उस रसोई के पाप मे आप भी भागीदार होते हैं। इसको विपरीत स्थिति से भी सोच लीजिये कि किसी रोज बहिन ने रसोई नहीं बनाई और आपको समय पर खाना नही मिला तो आपके मन मे क्या भावना आती है? आप तिलमिला उठते हैं भोजन न करने पर भी उससे आपका त्याग नहीं बनता है।

इसलिये सिद्धान्त की बात यह हे कि पापकार्य से निवृत्ति तीन करण तथा तीन योगपूर्वक होनी चाहिये। तीन करण है– स्वय नही करना दूसरो से नहीं करवाना तथा किसी करने वाले का अनुमोदन भी नही करना ओर इस रूप मे पाप-निवृत्ति तीन करण के साथ मे होवे। पाप करना, कराना और करते को अच्छा समझना– ये तीनो प्रवृत्तिया छूटनी चाहिए ओर यह निवृत्ति भी तीन योग से होनी चाहिये मन, वचन एव काया– तीनो से। पाप का चिन्तन, उच्चारण और क्रियान्वयन– तीनो छूटने चाहिए। तीन करण एव तीन योग के साथ की जाने वाली पाप-निवृत्ति से अशान्ति नष्ट होती है तथा होती है आचार समाधि की उपलब्धि।

गृहस्थ–धर्म एवं साधु–धर्म में पाप–निवृत्ति का अन्तर

गृहस्थ-धर्म मे पाप से निवृत्ति पूर्णतया तीन करण तीन योग से नहीं बन पाती है। बहनों द्वारा रसोई बनाने के पाप मे आप भागीदार होते हैं तो आप द्वारा अनीतिपूर्वक की जाने वाली कमाई के पाप की वे भी भागीदार बनती हैं। गृहस्थाश्रम एक प्रकार की ऐसी सस्था हे जिसमे दोनो हिस्सा डालकर चलते हैं। जिस बडे परिवार के पचास सदस्य हें तो वे सभी अपनी–अपनी जिम्मेदारी के कार्य सभालते हें और उस रूप मे हिस्सेदार बनते हैं। लेकिन जो सदस्य परिवार मे रहकर भी जिस रूप मे दूसरो के लिये दिल से त्याग करता है उसको उसका अच्छा फल मिलता है। फिर भी परिवार के पापकार्यो के भाग से वह बच नहीं सकता।

पापकार्यो से पूरे तौर पर बचाव तो साधु-धर्म मे सभव बनता है क्योंकि साधु तीन करण एव तीन योग से पूर्णतया पाप का परित्याग करता है। साधु स्वय पाप करे नहीं किसी से करावे नहीं ओर किसी करते हुए को भला समझे नहीं। इस प्रकार की मन स्थिति से यदि साधु चलता हे तो वह

पाप से बच सकता है। लेकिन यदि एक साधु धर्मस्थान मे बैठा हुआ है और वहा पर किसी ने दीपक या बल्ब जला दिया कि अधेरे मे ठोकर नहीं लगेगी दिन मे पखा चला दिया कि गर्मी नही महसूस होगी तथा माईक फिट करा दिया कि दूसरो को सुनाने मे सुविधा रहेगी। उस साधु ने यह सब करने को कहा तो नही, लेकिन अगर वह इन सुविधाओं का उपभोग करता है या इन सुविधाओ को ठीक समझता है, तब भी क्या वह उस पापकार्य का भागी नहीं बनेगा? जब सुविधा भोगते है या माईक पर बोलते है तो उस हिसा या पाप के वे भी भागी बनेगे, कहनेमात्र से कि वे उसमे शरीक नही हैं, वे पाप से नहीं छूटेगे।

कल्पना करिये कि महाराज का व्याख्यान चल रहा है, सुन्दर विषय है और जनसमुदाय मत्रमुग्ध होकर सुन रहा है, उस समय बैटरी या बिजली चली जाए और माईक बन्द हो जाने से व्याख्यान-श्रवण बन्द हो जाए तो तब सबकी भावना यही होगी कि जल्दी से जल्दी पॉवर आ जावे और माईक चालू हो जावे। पॉवर आने से सबको खुशी हुई तो यह हिसा कार्य की अनुमोदना ही होगी। साधु आचार यह है कि वह अपने ठहरने के स्थान पर सावधानी बरते और किसी प्रकार के पापकार्य के होते रहने को सहन न करे।

साधु–आचार की शुद्धता एवं उत्कृष्टता

साधु-आचार की शुद्धता एव उत्कृष्टता एक प्रकार से उल्लेखनीय है कि उसमे पूर्ण पाप-निवृत्ति की स्थिति बननी चाहिये। शास्त्रकारो ने स्पष्ट कर दिया है कि साधु जिस मकान मे ठहरने की आज्ञा ले उसे पहले ही ठीक तरह से देख ले– उसमे बल्ब या पखे या अन्य रूप मे बिजली का उपयोग तो नही हो रहा है अथवा किसी भी प्रकार का आरभ-समारभ तो नही हो रहा है? निरवद्य देखकर ही वह मकान मे ठहरे और बाद मे मकानमालिक या अन्य व्यक्ति किसी प्रकार का आरभ–समारभ का कार्य वहा करने लगे तो साधु कह दे कि हम ऐसे मकान मे नही ठहर सकेगे, दूसरा मकान दिखादो। दूसरा मकान नही मिले तो वह वहा से चल दे किन्तु किसी भी रूप मे वह सहमति या अनुमोदन के पाप का भागी नही बने।

साधु को अपने आचार की स्थिति से स्थिर रहना चाहिये। श्रावको को भी साधु को पापकारी कार्यों की तरफ नही ले जाना चाहिये। श्रावको को अपने स्तर पर पापकार्यों से निवृत्ति लेनी चाहिये तो साधुओ को तीन करण तीन योग के साथ पाप-निवृत्ति करने देनी चाहिये। साधु पूर्ण अहिसक होता है, अत उसे अव्यक्त रूप से ही सही, हिसा का अनुमोदन नही करना

चाहिये। आचार की दृष्टि से शास्त्रो के विरुद्ध चले ओर हिसाकारी उपक्रमो को इरादतन काम मे लेते रहे तो महाव्रत टूटने का दोष लगेगा। साधु को ऐसे हिसाकारी प्रसगो से दूर रहकर आचार की शुद्धता एव उत्कृष्टता का प्रकाशित करना चाहिये।

शायद आप सोचे कि आज के वेज्ञानिक युग मे ऐसी स्थिति कही जीवन मे बन सकती है? लेकिन बनती है तभी तो गति आती हे साधु-जीवन की स्थिति को आप यहा ही देख सकते हें। यहा पर सन्त ठहरे हुए हैं, श्रोता भी काफी आते हैं तब क्या देशनोक मे माईक नहीं मिलता हे? फिर यहा क्यो नहीं लगते? आप जानते हें कि महाराज माईक को काम मे नही लेते उसका अनुमोदन नहीं करते तथा फिर भी कही लगा दिया तो वे उठकर चले जायेंगे इसलिये आप सावचेत रहते हें। रात मे भी आप लोग अधेरे मे आकर बेठते हैं। आप अपनी स्थिति से रहते हें तथा सन्त-जीवन की स्थिति उनकी मर्यादा के अनुसार चल रही है। आप भी इसमे उनको यथासभव सहयोग दते हें। आचार की रक्षा इसी तरह निष्ठापूर्वक ही हो सकती है।

आचारप्रधान जीवन की गति समुन्नति की ओर

ज्ञान प्रकाश हे तो आचार गति का नाम हे। प्रकाश हो फिर भी गति न हो तो प्रगति व लक्ष्यप्राप्ति शक्य नहीं हो सकती हे। इसी हेतु से आचार की प्रधानता मानी गई है कि गति के विना लक्ष्य तक नहीं पहुचा जा सकेगा। आचारप्रधान जीवन की गति समुन्नति की ओर अग्रसर होती हे।

अत सत्य सिद्धान्तो के प्रति आस्था का भाव वनाइये, उनका अध्ययन– मनन कीजिये तथा उनके निर्देशो के अनुसार अपने आचरण को ढालिये, फिर जीवन में आत्मविकास की समाधि– शान्ति अवश्य प्राप्त होगी।

*****



आचार-शिथिलता और क्रांति

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी

महावीर प्रभु की प्रार्थना के प्रसग मे समाधि के कारणो पर विवेचन चल रहा हे। समाधि अर्थात् आत्मा को शान्तिलाभ होने के चार कारण बताये है, जिनमे से सूत्र तथा विनय-समाधि का विवेचन हो गया था तथा आचार-समाधि का विश्लेषण किया जा रहा हे। आचार-समाधि के बाद ही अन्तिम तपस्या समाधि बताई गई है।

सबसे पहले भगवान् महावीर ने आचार को महत्त्व दिया, परिणामस्वरूप बारह अगो मे से पहला अग आचाराग कहलाया। यही प्रभु की प्रथम देशना थी। सभी शास्त्रो का आचाराग सूत्र से आरभ हुआ। आचार–पालन से ही पवित्रता का प्रसार होता है। सामायिक जीवन की चर्या से जीवन मे उत्क्रान्ति जन्म लेती है तथा जीवन का महत्त्व मुखरित होता है।

निर्ग्रन्थ श्रमण–संस्कृति का अबाध प्रवाह

आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष बताया गया हे तथा उसकी प्राप्ति का साधन माहवीर–दर्शन के निचोड रूप मे कहा गया है– सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष–मार्ग। ज्ञान एव आचरण के साथ दर्शन– आस्था का सयोग होना चाहिये तथा तीनो अपने स्वरूप की दृष्टि से सम्यक् होने चाहिए। सच्ची आस्था, सच्चा ज्ञान तथा सच्चा आचरण मोक्षप्राप्ति के साधन रूप कहे गये है। इस मार्ग पर चलने की शिक्षा देने वाली जो सस्कृति है, महावीर प्रभु द्वारा सस्थापित वही सस्कृति निर्ग्रंथ श्रमण-सस्कृति के नाम से विख्यात हुई है। इस सस्कृति का मूलाधार है– श्रमण, जो सच्चे आचरण की सजीव मूर्ति होता है और इस सस्कृति तथा उसके मूलाधार मे कही कोई ग्रथि– गाठ नही होनी चाहिये। ग्रथि वह होती हे जो कही भी विचार, वचन अथवा कार्य की दृष्टि से मोक्ष–मार्ग पर चलने मे बाधारूप हो। श्रमण इन सारी बाधाओ पर विजय पाकर ही मोक्ष–मार्ग पर आगे बढता है और निर्ग्रंथ बनता है।

यही सस्कृति आत्मभाव की आराधना का निर्देश देती हे तथा देती है आत्मा को समाधिस्थ बनाने की प्रेरणा। यह सस्कृति सूत्र द्वारा निर्देशित है, विनय पर आधारित है, आचार द्वारा सचालित है तो तपस्या द्वारा परिपुष्ट है और इसीलिए आत्मसमाधि की दिशा मे गति कराने वाली है। सम्यक् आचरण तपस्या की आराधना से तेजस्वी बनता है। वही आचरण आचाराग सूत्र के माध्यम से अहिसा के रूप मे विख्यात हुआ है जिसकी क्रमिकता ढाई हजार वर्ष से चलती हुई आ रही है। तब से निर्ग्रंथ श्रमण-सस्कृति का जो प्रवाह बह रहा है, वह प्रवाह इसी गति से इक्कीस हजार वर्ष तक बहेगा। बीच–बीच मे प्रवाह के वेग मे कही बाधा आई है यानी आचार-पालन मे शिथिलता आने लगी तो विशिष्ट व्यक्तियो ने उसमे क्रान्ति लाने की दृष्टि से अपने जीवन समर्पित किये हैं। ऐसे ही निर्ग्रंथ श्रमण-सस्कृति के प्रति जीवन समर्पित करके आचार क्षेत्र मे क्रान्ति लाने वाले एक महापुरुष का आज उल्लेख किया जा रहा है, जिनकी क्रान्ति का परिणाम दूसरे रूप मे आप देख रहे हैं। ये महापुरुष हैं धर्मप्राण वीर लौंकाशाह जिनकी आज जन्मजयन्ति हे।

शिथिलाचार का विस्तार तथा वीर लौंकाशाह का सघर्ष

लौंकाशाह ने उस युग मे शिथिलाचार के विरुद्ध जो कठिन सघर्ष किया तथा नई क्रान्ति लाकर महावीर के सम्यक् आचार की जो पुन प्रतिष्ठा की उनका वह वीरत्व चिर–स्मरणीय रहेगा। उस समय के चतुर्विध सघ मे व्याप्त वायुमडल मे उन्होने उत्प्रेरणा दी तथा ससार को बतला दिया कि साधु–जीवन की पुनीत मर्यादाए शिथिलाचारियो द्वारा नष्ट नही की जा सकेगी तथा वे मर्यादाए सदा चमकती रहेगी। समय–समय पर अन्य महापुरुषो ने भी इन मर्यादाओ की चमक मे बढोतरी की हे।

लौंकाशाह के समय मे जहा अन्य कई प्रकार की विषमताए चल रही थीं वहा आडम्बर की स्थिति अत्यधिक विषम बनी हुई थी। आडम्बर का तात्पर्य क्या? जन-समुदाय का एकत्रित हो जाना आडम्बर नही कहलाता। आडम्बर की स्थिति वहा पर बनती है, जहा व्यर्थ की हिसाओ का प्रसग आता है। व्यर्थ की हिसा से अभिप्राय यह है कि धर्म–स्थल पर ही रसोई बनाना अग्नि सम्बन्धी आरभ–समारभ करना तथा कोरे प्रदर्शन के साधन खडे करना। आचाराग सूत्र मे जिन बातो का निषेध है उन बातो पर व्यवहार करने और स्वस्थ आचरण मे शिथिलता लाने से आडम्बर का वातावरण तैयार किया जा रहा था। इस शिथिलाचार ने लौंकाशाह की आत्मा मे जागृति उत्पन्न की और वे इस विकृत वातावरण से सफल सघर्ष करने के लिये कटिबद्ध हो गये।

लौंकाशाह ने उस आडम्बर के विरुद्ध शखनाद किया और जन-समुदाय

के बीच मे समाधान दिया कि आडम्बर व्यर्थ की हिसा हे और उसे दूर किये बिना आचार की पवित्रता स्थापित नही की जा सकेगी। उन्होने इस विचार का प्रसार किया कि इस आडम्बर के पीछे महावीर प्रभु द्वारा निर्देशित साधु–आचार विकृत बनाया जा रहा है जिससे श्रमण-सस्कृति की प्रतिष्ठा को हानि पहुच रही हे और इस हानि से सस्कृति की रक्षा आवश्यक है। उन्होने प्रेरणा दी कि शिथिलाचार को सहन नही करे और शिथिलाचारियो को अपने आचार की मर्यादाओ का यथासूत्र पालन करने के लिये विवश करदे। किसी से साधु-आचार का पालन नही किया जा सकता हो तो वह दीक्षा न ले लेकिन दीक्षा लेने के बाद ढिलाई न रखे। इस प्रकार धर्म के नाम पर फैलाये जाने वाले आडम्बर का उन्होने डटकर विरोध प्रारभ कर दिया।

आडम्बर क्या होता है, और क्या नहीं होता है?

धर्म के नाम पर किया जाने वाला व्यर्थ की हिसा का आचरण तथा प्रदर्शन आडम्बर की व्याख्या मे आता है। साधु निर्ग्रंथ होना चाहिये और वह इस प्रकार के आडम्बरो को चलावे तथा बढावे तो उसके वैसे आचार को शिथिलाचार कहा जाएगा। आचार-पालन मे ढिलाई करने वाला शिथिलाचारी सस्कृति की अत्यधिक हानि करता है, क्योकि वह अपने शिथिलाचार को सही बताने की चेष्टा मे सिद्धान्तो को भी कलकित बनाता है। आडम्बर इस प्रकार धर्म के नाम पर किया जाता है और धर्म के ही स्वरूप को वह विकृत बनाता है। वास्तव मे आडम्बर जनमानस को भ्रमित बनाकर धर्म की जडो पर ही कुठाराघात करता हे।

कोई जन-समुदाय धर्म–स्थल पर एकत्रित होता है जो प्रवचन श्रवण करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रिया आराधता है, तो वह आडम्बर नही कहलाएगा, बल्कि ऐसे जन-समुदाय से तो धर्म-जागरण का प्रसग उपस्थित होता है। जन-समुदाय किसी धर्म–स्थल पर तभी एकत्रित होता है, जब उनके मन मे धार्मिक उत्क्रान्ति की भावना प्रबल बनती है। जहा तीर्थंकर भगवान् का समवसरण होता था, वहा विशाल जनमेदिनी एकत्रित होती थी और जन ही क्यो– देव, देवी तिर्यंच आदि बारह प्रकार की परिषद उपस्थिति होती थी। उस अधिक सख्या की उपस्थिति को कही भी आडम्बर नही कहा गया है।

जन-समुदाय को एकत्र करना दूसरी बात है, लेकिन जन-समुदाय का एकत्रित हो जाना महत्त्पूर्ण माना जाता है। महावीर प्रभु ने दीक्षा ली तो जन–समुदाय को एकत्रित करने के लिये दीक्षा नही ली, बल्कि उनकी दीक्षा के पावन प्रसग से जन-समुदाय एकत्रित हो गया। वह एक प्रकार से धर्म-जागरण का प्रसग था। महावीर ने आध्यात्मिक जीवन को प्रकाशित करने

के लिये आत्मशुद्धि की भावना से दीक्षा ली तथा धर्म-साधना में रत हो गए। परन्तु जब उनके आध्यात्मिक जीवन का प्रकाश चारों ओर फैलने लगा तो उनकी देशना श्रवण करने के लिये जन समुदाय स्वतः ही एकत्रित होने लगा— कोई किसी को निमंत्रण नहीं देता था। जहां स्वतः जन-समुदाय उपस्थित होता है वहां वास्तविक धर्म-जागरण का दृश्य दिखाई देता है। बुलाने पर या जबरदस्ती लाने पर धर्म-बोध दिया भी जाए तो वह ऊपर से ही छूता जाता है उसका असर नहीं होता। अन्दर की शक्ति से स्वतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है, उसी प्रेरणा से बड़े-बड़े सम्राट, राजा-महाराजा, वासुदेव व श्रेष्ठिजन भगवान् के समवसरण में उपस्थित हुआ करते थे तो उनके उस आगमन को आडम्बर नहीं कह सकते हैं।

ऐतिहासिक सम्राट श्रेणिक जब कभी प्रभु के समवसरण में जाते थे तो चतुरंगिणी सेना के साथ जाते थे जिससे दृश्य भव्य बन जाता था। इसके लिये कोई आडम्बर की शंका करे तो वह उचित नहीं, क्योंकि प्रभु न तो किसी को बुलाते थे, न ही किसी हिंसादिक प्रक्रिया का समर्थन करते थे। जिन-जिन के दिल में भावना उमड़ती थी, वे आस्थापूर्वक वहां पहुंच जाते थे। आज भी जो लोग अपनी धर्म-जागृति की दृष्टि से सन्तों के पास पहुंचते हैं उनकी जिम्मेदारी स्वयं उन पर रहती है, न कि सन्तों पर। सन्त अपने कर्तव्य की दृष्टि से चले तथा गृहस्थ अपनी स्थिति से मर्यादित रहे तो वहां आडम्बर नहीं होता, बल्कि आत्मशुद्धि का प्रसंग ही बनता है।

धर्म के प्रति जागृति वास्तविक होनी चाहिये!

धर्म के प्रति जब जागृति अपने वास्तविक रूप में होती है तो वहां पर आडम्बर का प्रवेश ही नहीं हो सकता है। आडम्बर से शिथिलाचार बढ़ता है तो धर्म-जागृति से आचारनिष्ठा विकसित होती है, और इस आचारनिष्ठा के प्रचार-प्रसार में सहयोग करने को धर्मलाभ का कारण माना गया है। इसीलिये जहां पर भगवान् के समवसरण की रचना होती थी, वहां देवगण आकाश में दुंदुभि बजाते थे। इसे वे अपना कर्तव्य मानकर समवसरण की सूचना देते थे। जहां धर्मलाभ का प्रसंग हो वहां निषेध करने से अन्तरायकर्म का बंध हो सकता है। समवसरण में सचित्त पदार्थ नहीं जा सकते थे तो कभी कोई ऐसे पदार्थ जैसे फूलमाला वगैरा वहां ले जाने की प्रेरणा नहीं देता था। गृहस्थ अपनी मर्यादा से चलते थे। आज भी इस प्रकार जन-समुदाय की उपस्थिति धर्म-जागरण प्रकट करती है अथवा आडम्बर दिखाती है— इस का निर्णय इसी कसौटी से लिया जाना चाहिये कि उस जन-समुदाय में धर्म के प्रति जागृति का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगत हो रहा है या नहीं?

गृहस्थों को धर्मस्थल पर अथवा सन्तों के पास जाते समय अपनी

धार्मिक जागृति को ही प्रमुखता देनी चाहिये तथा समुचित मर्यादाओ का पालन करना चाहिये। सन्त मर्यादापालन का प्रतिबोध दे सकते है किन्तु किसी का हाथ नही पकड सकते है। वे तटस्थ भाव से प्रवचन देते है अथवा अपनी साधना मे तल्लीन रहते है। धर्म के प्रति गृहस्थो मे जब वास्तविक जागृति होती है तथा वे सन्तो के पास पहुचते है तो उन्हे अपनी मर्यादाओ का पालन करना चाहिये तथा किसी प्रकार के आडम्बर मे नही पडना चाहिये।

तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करे तो साररूप तथ्य यह है कि प्रभु द्वारा निर्देशित आचार मे चाहे वह साधु का आचार हो या श्रावक का आचार, किसी रूप मे शिथिलता को नही आने देना चाहिये। शिथिलता तभी घुसती है, जब आडम्बर बढता है। वास्तविक धर्म-जागृति की अवस्था मे तो आचार पुष्ट बनता हे तथा प्रकाशित होता है।

क्रान्ति जगाने का अर्थ है आचार–धर्म को परिपुष्ट बनाना

आचार-धर्म का परिपालन पूर्ण शुद्ध रूप मे चलता रहे– यह मूल लक्ष्य होना चाहिये। कालप्रवाह मे जब कभी उस परिपालन मे किसी भी कारण से किसी रूप मे शिथिलता प्रवेश न कर सके– इसकी सजगता होनी चाहिये और यदि शिथिलता प्रवेश कर जाए तो प्रबुद्ध जनो को इस रूप मे क्रान्ति जगानी चाहिये कि पुन आचार-धर्म परिपुष्ट बन जाए।

साधु हो या श्रावक– अपने आचार के शुद्धिपूर्वक पालन मे उसे पूरी सावधानी बरतनी चाहिये। सावधानी रखते हुए भी कही स्खलन हो जाए– पहले ज्ञात न हो और बाद मे ज्ञात हो तो साधु या श्रावक उसका शुद्धिकरण करे, न कि उस भूल को दबाने की कोशिश करे। जानते हुए भूल नही होनी चाहिये ओर अनजाने मे जो भूल हो जाए, उसका समुचित रूप मे परिमार्जन कर लेना चाहिये। ऐसी अवस्था मे ही आचार-धर्म सुव्यवस्थित रूप से बना रह सकता हे। परिमार्जन पश्चात्ताप एव प्रायश्चित्त के क्रम से भूलो की पुनरावृत्ति कम होती जाएगी तथा शुद्धाचार का स्वरूप पवित्र बनता जाएगा।

आचार-धर्म का परिपुष्ट रूप सन्त-जीवन मे परिलक्षित होना चाहिये। सन्त-जीवन ही सारे समाज के लिये आदर्श-रूप होता हे। जब शिथिलाचार सन्त-जीवन मे प्रवेश करता हे, तभी आचार-धर्म का रूप विकृत होने लगता हे ओर सारे समाज मे शुद्धाचार के सम्बन्ध मे विविध भ्रान्तिया उत्पन्न हो जाती हें। सन्त-जीवन सिर्फ शरीर का पिड या वेशमात्र नही होता है। शरीर-पिड तो आपका भी हे, लेकिन आपका आचार–धर्म गृहस्थ या श्रावक-मर्यादा मे होता हे, लेकिन आचार-धर्म का सूक्ष्म रूप से पालन साधु-अवस्था मे करना होता हे। सन्त-जीवन का शरीर भी पच महाव्रतो की आराधना मे पूर्ण रूप से सहायक वना रहना चाहिये। शिथलाचार को हटाना ह ओर शुद्धाचार का पालन करना ह– मुख्य रूप स क्रान्ति का यही मर्म ह।

शुद्धाचार के परिपालन में समन्वित सहयोग की अपेक्षा

आज चातुर्मास समापन के बाद विदाई के अवसर पर दशनाक संघ के अध्यक्ष व मंत्री बोले हैं तथा अन्य, साधुमार्गी संघ के मंत्री भी बहुत-कुछ बोल गये हैं। और भी कई भाई बोले हैं। विदाई की दृष्टि से आप जो सोचते हैं वैसी विदाई नहीं देनी है और इस शरीर-पिंड की विदाई खास महत्त्व नहीं रखती है। आप तो पंच महाव्रतों को अपने अन्तःकरण में बिठाइये और सन्त जीवन की समीक्षा करते रहिये कि वह शुद्धाचार की पटरी पर किस रूप में चल रहा है। मुझे चतुर्विध संघ का पूर्ण वात्सल्य मिला है और भगवान् ने भी चतुर्विध संघ को साधु का 'अम्मा पियरो' (माता-पिता) कहा है, जिसका अभिप्राय है कि सन्त-जीवन के शुद्धाचार की रक्षा में श्रावक-श्राविकाएं भी अपना वात्सल्य समर्पित करें।

मैं इस वृत्ति को शुद्धाचार के परिपालन में समन्वित सहयोग की दृष्टि से देखता हूं। साधु-साध्वी अपनी मर्यादाओं के अनुसार श्रावक-श्राविकाओं को धर्म का ज्ञान, दर्शन, चारित्र का प्रतिबोध देते हैं तो श्रावक-श्राविकाओं में भी इस प्रकार का विवेक जाग्रत् रहना चाहिये जो सन्त-जीवन में शुद्धाचार के परिपालन में प्रहरी का काम करे। शुद्धाचार की सुरक्षा में किसी प्रकार की पक्षबन्दी नहीं आनी चाहिये। जैसे आपका पुत्र कोई भूल करता है तो आप उसकी हित-कामना से उसको उसकी भूल बता देते हैं और उसे सुधारने का निर्देश देते हैं। उसी प्रकार सन्त-जीवन में शुद्धाचार की सुरक्षा के लिये भी आपको ऐसा वात्सल्य दिखाना चाहिये। दोनों वर्गों के समन्वित सहयोग से ही शुद्धाचार का परिपालन सहज बन सकेगा तथा चतुर्विध संघ का आचार-धर्म देदीप्यमान हो सकेगा।

आत्मिक उत्क्रान्ति की भावना को अक्षुण्ण बनाये रखें

वीर लौंकाशाह को स्मरण करने का यही अभिप्राय होना चाहिये कि जिस प्रकार शिथिलाचार के भारी विस्तार के बीच में भी उन्होंने अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति की भावना को बल दिया तथा सारे समाज में ऐसी उग्र क्रान्ति फैलाई जिससे शुद्धाचार की पुनर्प्रतिष्ठा हो सकी।

आज भी और प्रत्येक समय में प्रबुद्ध आत्माओं का यह कर्तव्य होता है कि वे चतुर्विध संघ के सभी वर्गों में उनके लिये निर्देशित आचार-धर्म के पालन पर कड़ी नजर रखें और जहां-कहीं शिथिलाचार की छाया भी दिखाई दे तो उससे संघर्ष करके शुद्धाचार की प्रतिष्ठा में अपना योगदान दें। आचार सम्बन्धी यह क्रान्ति सदा चलती रहे तो आत्मिक उत्क्रान्ति आसान बनी रहेगी।

*****

21

अपनी आलोचना : अपनी आवाज

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनी जाण रे प्राणी

महावीर प्रभु की यह प्रार्थना आत्मभाव-आराधना की प्रेरणा दे रही है और इसके लिये भीतरी विशेषता को सूक्ष्म रूप से अवलोकन करने की आवश्यकता है। पवित्र अवलम्बन के बिना चेतन की जागृति का भव्य स्वरूप ग्रहण करना कठिन होता है। अन्तर्चेतना जब सोई हुई रहती है और अपनी शक्ति–सीमाओ को भी भूल जाती है, तब उसके लिये एक ऐसे निमित्त की जरूरत होती है जिसकी प्रेरणा से उसकी शिथिलता दूर हो सके।

यह आत्मा किसका अवलम्बन ले?

अनादिकाल से आत्मा का स्वरूप कर्मों के आवरण से आच्छादित है। बन्धन मे रहती हुई इस आत्मा ने सदा बन्धनकारक तत्त्वो का ही सहारा ढूंढा है और सहारा लिया है– बन्धन–युक्त पदार्थो के पीछे ही अपनी शक्ति का व्यय किया है। इस आत्मा ने अपनी निज की शक्ति की पहिचान नही की। आत्म–शक्ति की पहिचान कराने वाला जो प्रमुख अवलम्बन है, उसे भी इस आत्मा ने नही पहिचाना।

इस कारण प्रश्न उठता है कि यह आत्मा किसका अवलम्बन ले? कौनसा अवलम्बन पवित्र है तथा आत्मोद्धारक बन सकता है? इसका निर्विवाद उत्तर है कि ऐसा पवित्र अवलम्बन परमात्मा का है, जो सत् चित् एव आनन्द स्वरूप मे रमण करते हुए सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है। परमात्मा इस आत्मा के लिये प्रेरणा के स्तभ एव ज्योति स्वरूप हैं कि वह कर्मो के आवरण से अपने स्वरूप को मुक्त करले एव स्वय भी परमात्म स्वरूप का वरण करने के लिये अग्रगामी बने। परमात्मा के पवित्र अवलम्बन को ग्रहण नही करके इस आत्मा ने अब तक बडी भूल की है। इस भूल का सुधार इसी जीवन मे और वह भी जल्दी से जल्दी बन जाए तो मुनष्यतन के अन्दर रहने वाली यह आत्मा अपनी पिछली गलतियो को महसूस कर लेगी तथा उनको सुधार लेने का पराक्रम

भी प्रकट कर सकेगी। अपनी भूलों का परिमार्जन करके यदि यह आत्मा चलने लगे तो वह धन्य हो जाए।

किन्तु परिमार्जन की क्रियाशीलता तभी पैदा हो सकेगी, जबकि परमात्मा को पवित्र अवलम्बन के रूप में स्वीकार किया जाए तथा सदा ही अपने सामने आदर्श रूप में उनके पवित्रतम स्वरूप को रखते हुए गति की जाए।

अपनी आलोचना स्वयं करेंगे तो अपनी भूलें जान सकेंगे!

अपूर्ण आत्माएं पग–पग पर भूल करती है, लेकिन उन भूलों को समझने तथा महसूस करने का प्रयास वे नहीं करती है। विरली ही आत्माएं होती हैं, जो उन भूलों का महसूस करके उनको परिमार्जित करने के लिये आगे बढ़ती हैं। अपने-आप का संशोधन करना सामान्य बात नहीं है। अपने गलती कर तो आगे-पीछे अपनी दृष्टि मे यह आ ही जाती है और कदाचित् अपनी दृष्टि मे नही भी आये तब भी यदि कोई उसको बतलाने की कोशिश करे तो साधरणतया उससे लड़ने लग जाते है तथा उसको अपना शत्रु मान बैठते हैं कि उसने मेरी गलती बतलादी। गलती को सुधारने की भावना आसानी से नहीं बनती है। दूसरा गलती बतलादे तो वह उपकार करता है कि उसने हमारी आख खोल दी, कारण अपनी आखें खुली हुई रखते तो वह गलती अपनी ही आखो को दिखाई दे जाती। वास्तव म यदि अपनी ही आखे खुली रहे और अपने ही अपनी गलतियों को महसूस कर ले तो उनका सुधार करने का लक्ष्य भी क्रियाशील बना रह सकता है।

अपनी भूले स्वय तभी जान सकेंगे जब कि हमारे ज्ञानचक्षु खुले रह और इन ज्ञानचक्षुओं को खुले रखने का उपाय है कि हम नितप्रति अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों की स्वय अलोचना करते रहें। अपनी आलोचना का अर्थ है अपनी आत्मा के स्वरूप को नितप्रति देखते रहना और परखते रहना कि उस पर कर्मों के आच्छादन की क्या अवस्था है? इस आलोचना से यह ध्यान बना रहेगा कि यह आच्छादन घटता रहे। इस ध्यान के परिणामस्वरूप अपनी वृत्तियों और प्रवृत्तियो को शुभ योग में नियोजत रखने की चेष्टा बनेगी तो भूलों का परिमार्जन करते रहने का भी अभ्यास होने लगेगा। जब भूले सुधरती जाएगी तो आगे से वे भूले फिर नहीं होंगी और इससे कर्म-बन्धन का सिलसिला कमजोर बनेगा और आत्मा मे हल्कापन आवेगा।

अपनी आलोचना स्वय करना– यह अन्तर्दृष्टि की बात है। जो अपने भीतर देखने का अभ्यास करता है वही अपनी आलोचना भलीभाति कर



अपनी आलोचना : अपनी आवाज

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनी जाण रे प्राणी

महावीर प्रभु की यह प्रार्थना आत्मभाव-आराधना की प्रेरणा दे रही है और इसके लिये भीतरी विशेषता को सूक्ष्म रूप से अवलोकन करने की आवश्यकता है। पवित्र अवलम्बन के बिना चेतन की जागृति का भव्य स्वरूप ग्रहण करना कठिन होता है। अन्तर्चेतना जब सोई हुई रहती है और अपनी शक्ति–सीमाओ को भी भूल जाती है, तब उसके लिये एक ऐसे निमित्त की जरूरत होती है जिसकी प्रेरणा से उसकी शिथिलता दूर हो सके।

यह आत्मा किसका अवलम्बन ले?

अनादिकाल से आत्मा का स्वरूप कर्मों के आवरण से आच्छादित है। बन्धन मे रहती हुई इस आत्मा ने सदा बन्धनकारक तत्त्वो का ही सहारा ढूढा है और सहारा लिया है– बन्धन–युक्त पदार्थों के पीछे ही अपनी शक्ति का व्यय किया है। इस आत्मा ने अपनी निज की शक्ति की पहिचान नही की। आत्म–शक्ति की पहिचान कराने वाला जो प्रमुख अवलम्बन है, उसे भी इस आत्मा ने नही पहिचाना।

इस कारण प्रश्न उठता है कि यह आत्मा किसका अवलम्बन ले? कौनसा अवलम्बन पवित्र है तथा आत्मोद्धारक बन सकता है? इसका निर्विवाद उत्तर है कि ऐसा पवित्र अवलम्बन परमात्मा का है, जो सत् चित् एव आनन्द स्वरूप मे रमण करते हुए सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है। परमात्मा इस आत्मा के लिये प्रेरणा के स्तभ एव ज्योति स्वरूप है कि वह कर्मों के आवरण से अपने स्वरूप को मुक्त करले एव स्वय भी परमात्म स्वरूप का वरण करने के लिये अग्रगामी बने। परमात्मा के पवित्र अवलम्बन को ग्रहण नही करके इस आत्मा ने अब तक बडी भूल की हे। इस भूल का सुधार इसी जीवन मे और वह भी जल्दी से जल्दी बन जाए तो मुनष्यतन के अन्दर रहने वाली यह आत्मा अपनी पिछली गलतियो को महसूस कर लेगी तथा उनको सुधार लेने का पराक्रम

21

अपनी आलोचना : अपनी आवाज

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनी जाण रे प्राणी

महावीर प्रभु की यह प्रार्थना आत्मभाव-आराधना की प्रेरणा दे रही है और इसके लिये भीतरी विशेषता को सूक्ष्म रूप से अवलोकन करने की आवश्यकता है। पवित्र अवलम्बन के बिना चेतन की जागृति का भव्य स्वरूप ग्रहण करना कठिन होता है। अन्तर्चेतना जब सोई हुई रहती है और अपनी शक्ति–सीमाओ को भी भूल जाती है, तब उसके लिये एक ऐसे निमित्त की जरूरत होती है जिसकी प्रेरणा से उसकी शिथिलता दूर हो सके।

यह आत्मा किसका अवलम्बन ले?

अनादिकाल से आत्मा का स्वरूप कर्मों के आवरण से आच्छादित है। बन्धन मे रहती हुई इस आत्मा ने सदा बन्धनकारक तत्त्वो का ही सहारा ढूढा है और सहारा लिया है– बन्धन–युक्त पदार्थों के पीछे ही अपनी शक्ति का व्यय किया है। इस आत्मा ने अपनी निज की शक्ति की पहिचान नही की। आत्म–शक्ति की पहिचान कराने वाला जो प्रमुख अवलम्बन है, उसे भी इस आत्मा ने नही पहिचाना।

इस कारण प्रश्न उठता है कि यह आत्मा किसका अवलम्बन ले? कौनसा अवलम्बन पवित्र है तथा आत्मोद्धारक बन सकता है? इसका निर्विवाद उत्तर है कि ऐसा पवित्र अवलम्बन परमात्मा का है, जो सत् चित् एव आनन्द स्वरूप मे रमण करते हुए सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है। परमात्मा इस आत्मा के लिये प्रेरणा के स्तभ एव ज्योति स्वरूप हैं कि वह कर्मों के आवरण से अपने स्वरूप को मुक्त करले एव स्वय भी परमात्म स्वरूप का वरण करने के लिये अग्रगामी बने। परमात्मा के पवित्र अवलम्बन को ग्रहण नही करके इस आत्मा ने अब तक बडी भूल की हे। इस भूल का सुधार इसी जीवन मे और वह भी जल्दी से जल्दी बन जाए तो मुनष्यतन के अन्दर रहने वाली यह आत्मा अपनी पिछली गलतियो को महसूस कर लेगी तथा उनको सुधार लेने का पराक्रम

भी प्रकट कर सकेगी। अपनी भूलो का परिमार्जन करके यदि यह आत्मा चलने लगे तो वह धन्य हो जाए।

किन्तु परिमार्जन की क्रियाशीलता तभी पैदा हो सकेगी, जबकि परमात्मा को पवित्र अवलम्बन के रूप मे स्वीकार किया जाए तथा सदा ही अपने सामने आदर्श रूप मे उनके पवित्रतम स्वरूप को रखते हुए गति की जाए।

अपनी आलोचना स्वयं करेंगे तो अपनी भूले जान सकेंगे!

अपूर्ण आत्माए पग–पग पर भूले करती हैं, लेकिन उन भूलो को समझने तथा महसूस करने का प्रयास वे नही करती हैं। विरली ही आत्माए होती हैं, जो उन भूलो को महसूस करके उनको परिमार्जित करने के लिये आगे बढती हैं। अपने-आप का सशोधन करना सामान्य बात नही है। अपने गलती करे तो आगे-पीछे अपनी दृष्टि मे वह आ ही जाती है और कदाचित् अपनी दृष्टि मे नहीं भी आवे तब भी यदि कोई उसको बतलाने की कोशिश करे तो साधरणतया उससे लडने लग जाते हैं तथा उसको अपना शत्रु मान बैठते हैं कि उसने मेरी गलती बतलादी। गलती को सुधारने की भावना आसानी से नही बनती है। दूसरा गलती बतलादे तो वह उपकार करता है कि उसने हमारी आखे खोल दी कारण अपनी आखे खुली हुई रखते तो वह गलती अपनी ही आखो को दिखाई दे जाती। वास्तव मे यदि अपनी ही आखे खुली रहे और अपने ही अपनी गलतियो को महसूस कर ले तो उनका सुधार करने का लक्ष्य भी क्रियाशील बना रह सकता है।

अपनी भूले स्वय तभी जान सकेगे जब कि हमारे ज्ञानचक्षु खुले रहे और इन ज्ञानचक्षुओ को खुले रखने का उपाय है कि हम नितप्रति अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की स्वय अलोचना करते रहे। अपनी आलोचना का अर्थ है अपनी आत्मा के स्वरूप को नितप्रति देखते रहना और परखते रहना कि उस पर कर्मो के आच्छादन की क्या अवस्था है? इस आलोचना से यह ध्यान बना रहेगा कि यह आच्छादन घटता रहे। इस ध्यान के परिणामस्वरूप अपनी वृत्तियो और प्रवृत्तियो को शुभ योग मे नियोजत रखने की चेष्टा बनेगी तो भूलों का परिमार्जन करते रहने का भी अभ्यास होने लगेगा। जब भूले सुधरती जाएगी तो आगे से वे भूले फिर नही होंगी और इससे कर्म-बन्धन का सिलसिला कमजोर बनेगा और आत्मा मे हल्कापन आवेगा।

अपनी आलोचना स्वय करना– यह अन्तर्दृष्टि की बात है। जो अपने भीतर देखने का अभ्यास करता है वही अपनी आलोचना भलीभाति कर

सकता है। हमने क्या न करने लायक किया और क्या करने लायक नही किया है– इसका सही–सही बोध इस आलोचना–पद्धति से ही हो सकता है। भव्य आत्माए तो सदा इसी चेष्टा मे रहती हैं कि मेरे जीवन का मे स्वय अवलोकन करू तथा दूसरे भी जो भूले बतावे उनको ध्यान मे लेकर उनका भी सशोधन कर लू। मेरा परिमार्जन मे स्वय भी करू तथा इसमे दूसरो का भी सहयोग लू। जो इसमे सहयोग देते हैं वे मेरे परम हितकारी हैं। त्रुटिया बताने वाले शत्रु नही, सहायक होते हे। इस दृष्टि से आत्मालोचना के महत्त्व को समझना चाहिये।

भूल का ज्ञान पहले, उसका परिमार्जन बाद में

आत्मालोचना के माध्यम से अथवा दूसरो के बताने से जब अपनी भूल का सही ज्ञान हो जाएगा तभी उसके परिमार्जन की वृत्ति एव चेष्टा बन सकेगी। अपनी भूल का पहले ज्ञान करने के लिये अपने हृदय मे से सकोच तो निकाल देना चाहिये। इस सकोच की दो प्रकार से प्रतिक्रिया होती हे। एक तो अपने-आप अपनी आलोचना की वृत्ति नही बनती हे तथा अपनी आलोचना करके अपनी भूल जान भी ली जाती है तो उसे बाहर प्रकट नही करके उसे छिपाने की कोशिश की जाती है। इस सकोच से मनुष्य अपनी भूल के बाहर प्रकट हो जाने से घबराता हे। दूसरे रूप मे वह सकोच अपनी भूल बताने वाले अन्य व्यक्ति को अपना शत्रु मानने की समझ लेता है। इस कारण यह सकोच सर्वथा त्याज्य है।

भव्य आत्माए अपनी आलोचना स्वय करती है तथा नितप्रति की जाने वाली ऐसी आलोचना से अपनी रोज की भूलो को जानती हैं। ऐसे ज्ञान से उनको समझ मे आता है कि कौनसी प्रवृत्तिया त्याज्य होती हैं तथा कौनसी प्रवृत्तिया ग्राह्य? इस दृष्टि से वे अपनी भूल का परिमार्जन करते हुए त्याज्य प्रवृत्तियो को छोडती हे तथा ग्राह्य प्रवृत्तियो को अपनाती हैं। दूसरे जो भी व्यक्ति चाहे जिस भाव से उनको उनकी गलतिया बताते हैं तब भी वे तो उनको अपना हितैषी एव सहायक ही मानती हैं। जैसे आपके चावल या अनाज मे पडे हुए ककर को या तो आप खुद चुन ले तो आपके खाने मे किरकिर नही आवेगी लेकिन आप अगर उन ककरो को न चुने या पूरी तरह से नही चुन सके तथा दूसरा आगे आकर आपके लिये उन ककरो को चुनने लगे तो उससे आपका अहित होगा अथवा हित? अनाज मे पडे हुए ककर, पत्थर आदि को जो भी व्यक्ति आगे आकर आपके लिये निकालता है– चुगता है तो वह आपको हानि नही पहुचाता बल्कि आपको शुद्ध भोजन सुलभ करने

मे सहायता ही करता हे। अत आपको अपनी भूल बताने वाले के प्रति आभार ही प्रकट करना चाहिये। लोग तो पैसा देकर अनाज मे से ककर निकलवाते हैं, फिर कोई मुफ्त मे ही निकाल दे तो उसका आभार ही मानना होगा।

इसका अभिप्राय है कि आलोचना आत्मा को प्रिय लगनी चाहिये ओर अपने ही द्वारा आलोचना के क्रम को मजबूत बनाना चाहिये। क्योकि आलोचना की पद्धति से आत्मविकास की गति सन्तुलित एव स्वस्थ बनी रहती है।

भूलो और गलतियो के पीछे स्वार्थ, अहंकार एवं लालसाए

भूल होती हे या गलती बनती है अथवा जाने व अनजाने इनकी पुनरावृत्ति होती रहती है तो उसके पीछे कुछ मनोवृत्तिया काम करती हैं। वे मनोवृत्तिया स्वार्थ, अहकार आदि अशुभ वृत्तियो से विकृत होती है तो नाशवान पदार्थों को प्राप्त करने की लालसाओ से उत्तेजित बनी रहती हैं। इसी कारण छोटी-छोटी बातो मे मनुष्य उलझता रहता है और बार-बार भूलो मे पडता रहता है, बल्कि कई बार तो भूल को भूल समझ कर भी भूल करता रहता है। अपना मतलब और अपना अह मनुष्य को कई बार पागल-सा बना देता है कि वह अपनी आलोचना को सहन नहीं कर सकता है तथा अपने विचार से भी अपना सशोधन नहीं कर पाता है। यह तो नहीं होता है सो नही ही होता है लेकिन अपना मतलब पूरा करने के पीछे वह ऐसे दाव-पेच खेलने लगता है जिससे निकाचित कर्मो का बध होता है। वे दाव-पेच उसकी आत्मा को पतन के गर्त मे पटक देते हैं।

मैं ऐसे मनुष्यो को नम्रतापूर्वक कहना चाहता हू कि अरे मानव, तू सोच तो सही कि क्या इन नाशवान पदार्थों, अहवृत्ति, छल-बल तथा दाव-पेच की कीमत अपने आत्मस्वरूप को विकृत बनाकर तो नही चुका रहा है? तू अपने स्वार्थ के पीछे दाव-पेच खेलता है ओर उनमे जो बाधा डालता हे उससे तू बदला लेना चाहता हे। लेकिन सोच कि तू किससे बदला लेगा? उससे तो बदला लिया जाएगा या नही, तू अपनी ही आत्मा से जरूर बदला ले लेगा कि उन दुष्प्रवृत्तियो के कारण आत्मा अधिकाश अशुभ कर्मो से आच्छादित बन जाएगी। सामान्य दृष्टि से भी सोचा जाए तो कोई साधारण व्यापारी भी घास-फूस के बदले रत्न नही देता है। ससारी पदार्थ घास-फूस के समान हैं जिन्हे प्राप्त करने के लिये हे मानव, तू अपने आत्म रत्न को नष्ट कर रहा है, यह कितनी चिन्तनीय अवस्था है?

किसी ने दो अगुल जमीन दबा दी तो आप उससे लडने में कई अगुल शक्ति खर्च कर देते हैं किसी ने थोड़ी-सी हेठी बता दी तो उसे तोड़ने

मे आप अपने को भूल जाते हैं और ऐसी ही व्यक्तिगत कमजोरिया जब राष्ट्रीय धरातल पर भी उठने लगती है तो भूलो और गलतियो का दायरा भी बहुत बढ जाता है तथा बहुत घातक भी बन जाता है। इसलिये मनुष्य अपने-आप मे सावधान बने– यह सबसे पहले जरूरी है। अपने-आप मे सावधान तो वह अपनी निरन्तर आलोचना से ही बन सकता है। अपनी आलोचना से चैतन्य जाग्रत् रहता है। सन्तो की सावधानी भी तब असर करती है और त्रुटियो को बताने वाला सहायक भी तब ही समझ मे आता है।

अपनी आलोचना की श्रेष्ठ पद्धति है– प्रतिक्रमण!

अज्ञानी मनुष्य चाहे अस्थायी रूप से भी सुधरते हैं, तो वे सुधरते हैं या तो सरकारी दड से या कर्मों की चपेट से, लेकिन जो वास्तविक सशोधन होता है, वह आत्म–प्रेरणा से ही होता है तथा यही सशोधन स्थायी भी होता है। यह आत्म–प्रेरणा जाग्रत् बनती है आत्मालोचना से। अपने विचारो, वचनो एव कार्यों की स्वय आलोचना करे तथा करते रहे, तब अपने आत्मस्वरूप का स्तर ज्ञात होता है और उसी से आत्म–प्रेरणा जाग्रत् बनती है कि अपने आत्मस्वरूप को परिमार्जित करते हुए उसे उत्थानगामी बनावे।

प्रतिक्रमण तो आप लोगो मे से कई रोज करते होगे, कई पाक्षिक आदि लेकिन सावत्सरिक प्रतिक्रमण तो करीब–करीब सभी करते होगे। यह प्रतिक्रमण क्या केवल निर्धारित पाठ बोलकर ही पूरा कर लेते हैं अथवा उन पाठो के भावो मे भी उतरते हैं वे पाठ बडे महत्त्वपूर्ण हैं तथा उनके भावो के भीतर उतरने पर ही सही अर्थों मे प्रतिक्रमण होता है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ ही स्पष्ट है कि प्रति=पीछे+क्रमण=हटना अर्थात् पीछे हटना। यह पीछे हटना किससे? स्पष्ट है कि पापकार्यो से। पाप से पीछे हटना– यह प्रतिक्रमण की मूल प्रेरणा है तथा प्रतिक्रमण की आधारशिला है अपनी आत्मा की आलोचना। प्रतिक्रमण का विधान सजग आत्माओ के लिये दिन और रात दोनो का है। प्रात प्रतिक्रमण करके रात्रि की वृत्तियो व प्रवृत्तियो की आलोचना एव उनका परिष्कार करो तो सायकाल मे पुन प्रतिक्रमण करके दिन के अपने कार्यकलापो को आत्माभिमुखी बनाओ। जिन आत्माओ मे जागृति की न्यूनता है, वे कम से कम पाक्षिक प्रतिक्रमण अवश्य करे और सबसे कम वर्ष मे एक बार सावत्सरिक प्रतिक्रमण तो करे ही तथा अपनी वर्षभर की भूलो के लिये क्षमायाचना करे।

अपने विचारो, वचनो तथा कार्यकलापो की आलोचना करना, उनकी अशुभता से पीछे हटना एव उनका परिमार्जन करते हुए उनकी शुभता को

अभिवृद्ध बनाना– यह भव्य आत्माओ का लक्षण माना गया है। जो आत्मा इस श्रेष्ठ पद्धति का अनुसरण करती है उसकी अपनी आवाज मे बल आता है और वह ऊपर उठती है।

अपनी आलोचना से आत्मा की आवाज प्रबल बनती है

अपनी आलोचना करने और अपने स्वरूप को परिमार्जित करने वाली आत्मा उत्थानगामी होती है एव वैसी आत्मा की आवाज अवश्य ही प्रबल बनती है। अन्दर से उठने वाली यह आवाज अपनी आत्मा को भी सही रास्ते पर चलाती है तो अन्य आत्माओ को भी सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा देती है। भगवान् महावीर ने फरमाया है कि कर्मो के आच्छादन को सम्पूर्णतया हटाये बिना मोक्ष नही मिलेगा। मोक्षप्राप्ति के लिये यह आत्मा पूर्ण रूप से सचेष्ट बन सके तो अतीव श्रेष्ठ है लेकिन कम से कम गलत रास्ते पर चलकर वर्तमान जीवन मे सकटो को वह बढावे तो नहीं। सही रास्ते को वह पहिचाने और उस पर चलने की कोशिश करे– इतनी चेष्टा तो होनी ही चाहिये। अपनी विवेकपूर्ण आलोचना करते रहकर अपनी आत्मा की आवाज को प्रबल बनाने से ही यह चेष्टा फलवती बन सकती है। आज नही तो कल यही आत्मा की प्रबल आवाज आत्मा के लिये मोक्षप्राप्ति को भी सभव बना सकेगी।

चतुर और विवेकी पुरुष जब इस सही रास्ते को जान लेते हैं तो फिर अपनी आत्मशक्ति का अपव्यय नही होने देते हैं– ससार की लालसाओ के पीछे अपने आत्मस्वरूप को विकृत नहीं बनाते हैं। उनकी आत्मा की आवाज इतनी प्रबल बन जाती है जो प्रतिक्षण उन्हे निर्देश देती रहती है तथा जीवन की नैतिक व्यवस्था को विचलित नहीं होने देती है। प्रबुद्ध आत्मा की गति सुस्थिर होती है और सम्यक् भी, क्योकि भीतर की आवाज जहा पर निर्देशन तथा नियत्रण मे बलवती होती है वहा पर आत्मस्वरूप मे प्रबुद्धता समा जाती है।

जैसे कुशल जौहरी ही रत्न की सही परख कर सकता है वैसे ही प्रबुद्ध आत्मा जड एव चेतन तत्त्वो की सही–सही परख करके अपने विकास के अनुकूल साधनो को अपना लेती है।

आत्मालोचना, आत्मशक्ति एवं आत्मा की प्रबुद्धता

एक कुशल जौहरी रत्न की भीतर की परतो को बार–बार परखता है, उसकी चमक को जाचता है तभी उस का मूल्य बताता है। उसी प्रकार आत्मा का कुशल जौहरी भी आत्मालोचना के माध्यम से बार–बार अपने

भीतरी स्वरूप को परखता है, उसके गुण–दोषो को जाचता है तथा दोषो को घटाते हुए गुणो मे अभिवृद्धि करता है। उसकी सतर्कता निरन्तर बनी रहती हे कि आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बनता रहे। इसे ही आत्मा की प्रबुद्धता कहते हैं। प्रबुद्ध आत्मा ससार मे तटस्थ भाव से रहती है तथा अपने ऊर्ध्वगामी विकास की ओर एक लक्ष्य से चलती है।

बाहर के रत्नो के जौहरी तो जयपुर के मशहूर है, लेकिन अन्दर के रत्नो के जोहरी आप को छोटे–छोटे स्थानो पर भी मिल सकते है और शायद अधिक मिल सकते हें क्योकि आत्मा की प्रबुद्धता किसी स्थानविशेष की थाती नही होती है। मे यदा-कदा ऐसे प्रसग उपस्थित कर दिया करता हू। ब्यावर के पास एक छोटा-सा गाव हे रास, जहा पर थोडे-से ही घर हैं लेकिन वहा के निवासियो के आपस मे कई झगडे पडे हुए थे। उन लोगो ने सिर्फ दो दिन व्याख्यान सुनकर आत्मरत्न को ऐसी प्रबुद्धता से परखा कि उन्होने अपने सब झगडे निबटा लिये और वातावरण को पूर्ण सद्भावनामय बना लिया। दो दिन व्याख्यान सुनकर सारा मनमुटाव साफ कर दिया, क्या उन लोगो को आप जोहरी नही मानेगे? इसी प्रकार पाचू ग्रामवासियो ने भी, जो आपके पडौस मे ही हें मेरा थोडा-सा सकेत पाकर ही अपना सारा वैमनस्य समाप्त कर लिया तो वे भी जोहरी ही कहलावेगे। आपसी राग-द्वेष बढाने वाले जौहरी होकर भी जौहरी नही हें। आत्मा को पहिचानने वाले ही सच्चे जोहरी होते हैं और वे ही प्रबुद्ध कहलाते हें।

आत्मशान्ति से सर्वत्र शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें!

भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर से प्रश्न किया गया कि एक व्यक्ति आग लगाता हे ओर दूसरा व्यक्ति आग बुझाता है तो माहपापी कौन? वहा स्पष्ट उत्तर हे कि आग लगाने वाला महापापी होता हे। तो ऐसे महापाप से आप लोग भी बचे– आग भावनाओ की हो या दूसरी– कही भी लगाने की कोशिश न करे, वल्कि आग बुझाने के लिये सदा तत्पर रहे। जो परिवार, समाज एव राष्ट्र मे आग लगाता नही, वल्कि आग बुझाता हे, वह शान्ति–प्रसार का सहयोगी वनता है।

आत्मालोचना, आत्मशक्ति एव आत्म प्रवुद्धता से आत्म–शान्ति का मार्ग प्रशस्त वनता ह एव जो स्वय शान्ति का रसास्वादन करता हे, वही सर्वत्र शान्ति की प्ररणा भी दे सकता हे। आप भी आत्म–शक्ति से सर्वत्र शान्ति के मार्ग पर आगे वढे तो जीवन मगलमय वन सकेगा।



22

निर्लिप्तता का मार्ग

श्री महावीर वर नाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी

इस अवसर्पिणी काल मे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के शासन मे उनकी आत्मोद्धारक वाणी पर अधिकाधिक चिन्तन आवश्यक है। उनकी वाणी का चरम लक्ष्य है सभी प्रकार के बन्धनो से आत्मा की मुक्ति। यह मुक्ति ही आत्मा की समाधि का चरम बिन्दु है, लेकिन आत्मा की समाधि का आरभ मुक्तिमार्ग पर चलने के सकल्प से ही हो जाता है। सूत्र-समाधि से आत्मज्ञान का प्रकाश फैलता है तो विनय–समाधि ज्ञान के धरातल पर कठिन आचरण की सफल पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। फिर आचार-समाधि एव तपस्या-समाधि आत्मा को मुक्तिमार्ग पर गतिशील और प्रगतिशील बना देती है।

आत्म-समाधि का यह मार्ग एक प्रकार से निर्लिप्तता का मार्ग है। सासारिकता से निर्लिप्त बनकर जितनी आत्माभिमुखी वृत्ति का विकास होगा, उतनी ही अधिक शान्ति मिलेगी और मुक्तिमार्ग पर गतिशीलता बढेगी।

निर्लिप्तता का मूल सूत्र है, सम्यक् आचरण

सम्यक् आचरण ही निर्लिप्तता का एव उसके माध्यम से आत्म–समाधि का मूल सूत्र हे। शुद्ध आचार के बिना जीवन शुष्क तथा प्रगतिहीन ही रहता है। शुद्ध आचार एव व्यवहार की स्थिति सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् श्रद्धा के साथ सुदृढ बनती है। ज्ञान एव क्रिया का भव्य समन्वय बनता है तब मुक्तिदायिनी निर्लिप्तता का मार्ग प्रशस्त होता हे।

लेप दो प्रकार का होता है। यहा लेप से अभिप्राय किसी शारीरिक लेप से नहीं है, बल्कि उस प्रकार के आत्मिक लेप से है, जो आत्मा पर चढकर आत्मस्वरूप को मलिन बनाता है। यह लेप दो प्रकार का इस रूप में होता है कि पहली बार तो विषय एव कषाय की कलुषित वृत्तिया जब मन में उठती हैं तो उनका विषैला धुआ मानस को अधकार से घेर लेता है। एक तो लेप

का यह रूप होता है, फिर दूसरा रूप तब प्रकट होता है, जब उन कलुषित वृत्तियो की उत्तेजना मे कर्मबध का लेप आत्मस्वरूप पर चढता है। यह लेप तब तक नही उतरता या घटता है, जब तक सम्यक् आचरण को जीवन मे नही अपनाया जाता है।

इस प्रकार सासारिक पदार्थो के प्रति जितनी ममता है और उस ममता के आवरण मे जितनी कलुषित वृत्तियो की उत्तेजना पैदा होती है उन सबके कारण यह लेप गाढा और चिकना होता जाता है। तो लेप है वह ममता और जितने अशो मे ममता का त्याग होता है– सम्यक् आचरण की आराधना होती है, उतने ही अशो मे जीवन मे समता का विकास होता जाता है। जितनी समता आती है– उतनी ही निर्लेपता या निर्लिप्तता आती है, यह मानकर चलिये।

लेप उतरता है, लेप चढ़ता है आचार की शुद्धता–अशुद्धता से

मानसिक वृत्तियो एव कर्मो का यह लेप जहा आत्मस्वरूप पर चढता है तो आचार की शुद्धता से वह उतरता भी है। आचरण जब अशुद्ध होता है तो उसका कारण अज्ञान होता है एव उस अज्ञानमय अशुद्ध आचरण के फलस्वरूप मन और इन्द्रियो पर कोई नियत्रण नही रहता। वैसी दशा मे मनुष्य का मन और उसकी इन्द्रिया अशुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे इतनी बेभन होकर भटकने लग जाती हैं कि यह लेप आत्मस्वरूप पर चढता ही रहता है और वह गाढा होता जाता है। जितना अधिक गाढा लेप होता है, उतनी ही सज्ञाशून्यता आत्मा मे समाती जाती है। इसी स्थिति को समझ कर प्रभु महावीर ने आचार को प्रथम धर्म बताया और आचार को सम्यक् बनाये रखने पर बल दिया।

आचार मे जब सम्यक् रूप से शुद्धता आती है तो उसका निर्देशक सम्यक् ज्ञान होता हे। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान मन तथा इन्द्रियो को अनुशासित बनाकर उन्हे सम्यक् आचरण मे स्थिरतापूर्वक नियोजित करते हैं। इस नियोजन से उनका भटकाव रुक जाता है तथा इनका योग-व्यापार शुभता की दिशा मे क्रियाशील बन जाता है। तब ममता के बन्धन टूटते रहते हें एव मन, वचन व काया की वृत्ति–प्रवृत्तिया समत्व मे ढलती जाती हैं। अन्त करण की समतामय अवस्था मे लेप पर लेप नही चढता ओर पहले का चढा हुआ लेप भी उतरता जाता हे। ज्यो–ज्यो यह लेप पतला पडता है, जीवन मे निर्लिप्तता आती रहती हे तथा आत्मा का मूल स्वरूप चमकने लगता हे। यह लेप का आवरण ही आत्मस्वरूप को ढकने ओर मन्द बनाने

वाला होता है। अत निर्लिप्तता का मार्ग वास्तव मे आचार–शुद्धि तथा आत्मोन्नति का मार्ग हे। निर्लिप्तता मे ही आत्मसमाधि समाहित होती हे।

आचार समाधि की स्थिरता एव निर्लिप्तता का उद्‌भव

जिस जीवन मे आचार-समाधि स्थिरता को प्राप्त कर लेती है, उस जीवन मे निर्लिप्तता का उद्‌भव हो जाता है क्योकि आचार की आराधना से लिप्तता के बन्धन टूटते जाते हैं। सम्यक् आचरण के अनुपालन से आत्मा मे ऐसी शान्ति की अनुभूति होती हे कि आचरण की उच्चता तथा शान्ति की अनुभूति मे आगे से आगे बढने की जैसे एक होड शुरू हो जाती है। आत्मिक शान्ति का रसास्वादन आचार–निष्ठा को स्थिरता प्रदान कर देता हे। फिर आचार-समाधि का यही प्रभाव दिखाई देता हे कि जितनी अधिक निष्ठा उतनी अधिक कर्मठता और जितनी अधिक कर्मठता उतनी ही अधिक शान्ति। आत्मिक शान्ति तब अडिग बन जाती है।

आचार समाधि से जीवन मे कितनी शान्ति, कितनी निर्लिप्तता, कितनी समता एव कितनी त्यागवृत्ति का विकास होता है– यह आचार-साधक का अपना ही अनुभव होता है किन्तु सामान्य रूप से तो आप भी समय–समय पर अपने अन्दर का लेखा–जोखा लेते रहे कि आप कितनी ममता छोड़ते हैं, कितना लेप हटाते हें अथवा कितनी राग-द्वेष व अह की वृत्तियो का परित्याग करते हैं, तो आप भी आचार-समाधि के यत्किचित् शुभ प्रभाव से परिचित हो सकते हैं। सन्त और सतीवृन्द प्रभु महावीर की आज्ञाओ के प्रति समर्पित होकर चल रहे हें तथा अपने समग्र जीवन को तदनुसार ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनका कुछ-न-कुछ अनुसरण आप भी कर सकते हैं।

शास्त्रकारो ने सकेत दिया है कि यदि तुम आचार समाधि मे स्थिरता प्राप्त करना चाहते हो तो ज्ञान एव क्रिया के भव्य समन्वय की दृष्टि से अपने जीवन मे परिवर्तन लाओ। सन्त-सतीवृन्द के लिये तो विशेष निर्देश है कि वे अपने जीवन मे आचार एव विचार की प्रभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखे। इस प्रभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ही उनके लिये जनपद विहार का विधान है। केवल चातुर्मास मे वे एक स्थान पर ठहरते हैं, अन्यथा ग्राम–नगरो मे विचरण करते रहते हैं। चार माह चातुर्मास-काल मे एक स्थान पर रह कर जनता को प्रतिबोध-लाभ दना एव स्वय की आत्मसाधना करना तथा तदुपरान्त ग्रामानुग्राम विहार करते रहना– यह आचार–समाधि की स्थिरता के रूप मे रखा गया है ताकि साधु निर्लिप्त बना रह सके। एक स्थान

पर पडा हुआ पानी जिस प्रकार गन्दा हो जाता है लेकिन वही पानी बराबर बहता रहता है तो वह निर्मल बना रहता है। उसी प्रकार साधु एक स्थान पर अधिक ठहरे तो वह वहा के किसी-न-किसी मोह से लिप्त बन सकता है, परतु उसके निरन्तर विहार करते रहने से उसकी निर्लिप्तता अभिवृद्ध होती रहती है।

साधु–जीवन की निर्लेप वृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये

चातुर्मास-काल के अन्दर उपदेश के सिलसिले मे तटस्थ भावना से वस्तु–स्वरूप के प्रतिपादन के प्रसग आये, उनमे भी सभी प्रकार की भावनाए मै व्यक्त करता रहा एव सकेत देता रहा, लेकिन किन आत्माओ ने क्या ग्रहण किया– उनके चित्त की यह बात तो ज्ञानीजन ही जान सकते हैं। बडे रूप मे मत्रीजी ने तपश्चर्या का चिट्ठा पेश किया है। इसके अतिरिक्त इस चातुर्मास की अन्य उपलब्धियो का उल्लेख भी किया गया है। अवशेष स्थिति की दृष्टि से कषाय प्रवृत्ति का जो प्रसग भूरा-परिवारो मे चल रहा था– मामले कोर्ट कचहरियो तक पहुचे हुए थे और धनाढ्य परिवार अपनी–अपनी खीचातानी के लिये हजारो रुपये खर्च करने की हठ लेकर बैठे हुए थे– उन्होने अन्तिम समय मे उदारता दिखाई और चातुर्मास समापन के वक्त अपने वैमनस्य को कम कर लिया। खीचते गये तब तक मनुमुटाव खिचता रहा, किन्तु हतोत्साही नही हुए तो आप दृश्य देख ही चुके है। वैसा ही दृश्य सरदाशहर के लोगो का भी आप सुन चुके है। अच्छे काम के लिये सद्प्रयत्न करते रहे और स्वय की निर्लेपवृत्ति प्रखर बनाये रखे तो उसका बराबर अच्छा प्रभाव पडता ही है।

मेरा मन्तव्य तो यह है कि साधु–जीवन की निर्लेपवृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये। उसके आचार-धर्म एव उसकी चारित्रशीलता का यह सुप्रभाव होना ही चाहिये कि सम्पर्क मे आने वाला सहज रीति से अपनी विषय–कषाय की वृत्तियो का परित्याग कर ले। विहार के कुछ क्षणो पहले मैं फिर कह रहा हू कि कही कुछ आडा-टेढा हो तो अपना–अपना अवलोकन करके चातुर्मास की समाप्ति के प्रसग से उसे सीधा करले– इसी मे आपका हित है। आप यह न सोचे कि पहल करेगे तो उन्नीस हो जायेगे। आप उन्नीस नही होगे बल्कि जो पहले अपने हृदय की उदारता दिखायेगा, वह इक्कीस ही होगा और उसकी वाहवाही होगी। यह आत्मशुद्धि का प्रसग है ओर इसमे किसी से पीछे नही रहना चाहिये।

मॅ देशनोक सघ की स्थिति को अपनी स्थिति से अवलोकन करता हुआ अवश्य कहूगा कि देशनोक सघ मे सघ की हेसियत से अथवा पचायत

की हेसियत से जो-कुछ प्रसग सन्त–समागम मे समाहित हुए उनका रूपक जनमानस के लिये आदर्श बनता हे। साधु–जीवन के सम्पर्क मे आकर आप भी उनकी निर्लेप वृत्ति से शिक्षा ग्रहण करे तथा अपने जीवन मे उस प्रभाव का समावेश करे– यह सराहनीय है।

चारित्र की आराधना से सत्य की साधना

प्रभु महावीर की सम्यक् चारित्ररूपी जो आत्म–समाधि हे उसी के सहारे चतुर्विध सघ सुव्यवस्थित रूप से चल सकते है एव इस प्रकार के चतुर्विध सघ तथा व्यक्तिश साधु-साध्वी अथवा श्रावक–श्राविका जनता के लिये आकर्षण के केन्द्र बिन्दु बनते हैं। इस समाधि की प्राप्ति मे जो भी सहयोग करता है, उसे भी आत्मशान्ति मिलती है। महाराज हरिश्चन्द्र का सम्पूर्ण चरित्र आपने सुन लिया है और आपने हृदय मे उतारा होगा कि उन्होने सत्य पर आचरण किया तो सत्य की कसोटी पर वे खरे उतरे। कठिन से कठिन कष्ट उनके सामने आये, लेकिन सत्य की साधना से वे विचलित नहीं हुए। अन्त मे श्मशान मे कैसा भव्य दृश्य बना कि सारी काशी की जनता उमड़ पडी, देवगण भी उपस्थित हुए तथा विश्वामित्र ने पश्चात्ताप किया। जनता महाराजा और महारानी को अयोध्या मे ले गई, किन्तु वे तो सत्य के साधक बन चुके थे अत रोहित को राज्य देकर उन्होने भागवती दीक्षा अगीकार कर ली। वहा तप-सयम की सुन्दर आराधना करते हुए उन्होने आचार– समाधि की उपलब्धि की तथा केवलज्ञान प्राप्त किया। अन्त मे वे सत्य-साधक मुक्तिगामी हुए।

आप भी हरिश्चन्द्र–चरित्र से सद्गुणो को ग्रहण करे ओर यह समझ ले कि चारित्र की आराधना करते हुए जो सत्य की सफल साधना करता है वह निर्लिप्तता के मार्ग पर आगे बढ जाता हे। सत्य को आप चारित्र की रीढ की हड्डी मान सकते हैं जो तभी सीधी ओर स्वस्थ रह सकती हे जबकि निर्लेप वृत्ति का उस मे समावेश हो जाए। सत्य की साधना से सभी आत्मिक गुणों का श्रेष्ठ विकास होता हे।

निर्लिप्त बनकरके समता के साधक बनिये!

चारित्र और सत्य की आराधना से आत्मस्वरूप पर चढे हुए लेप उतरते हैं और आत्मा मे एक प्रकार का सुखद हल्कापन आने लगता है। यह हल्कापन निर्लेप वृत्ति अथवा तटस्थ वृत्ति का होता है। मोह-ममता के भाव कम होते हैं– विषय-कषाय की वृत्तियां पतली पडती हें तो मन म निर्लिप्तता का समावेश होता है। निर्लिप्त बनने के बाद मे ही समता के साधक बन

एक बार जब आत्मा को अपनी गहराई मे डुबो देता है तो आत्मा फिर उस आनन्द से बाहर निकल जाने की कभी इच्छा तक नहीं करती है। यह चिर आनन्द ही आत्मा को प्रिय होता है, कारण यह आनन्द सत् ओर चित् से प्राप्त होता हे तभी आत्मा को सच्चिदानन्द का पावनतम स्वरूप प्रदान करता हे। सच्चिदानन्द बन जाना ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, अत जो भी आत्मा इस लक्ष्य की ओर गति करने मे अपना पुरुषार्थ करेगी, उसका जीवन आनन्दमय बनता जाएगा।

*****



धर्म-क्षेत्र में शौर्य

श्री महावीर नमो वर नाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी

प्रभु के चरणो मे विधिपूर्वक नमन करने से आत्म–भावो की आराधना होती है, जिसका उद्देश्य होना चाहिये कि जीवन के सार–तत्त्व को प्राप्त करले। मनुष्य जीवन को प्राप्त करके धर्म के क्षेत्र मे अपना अभूतपूर्व शोर्य नही दिखाया तथा जीवन का परम तत्त्व प्राप्त नहीं किया तो फिर इस जीवन की क्या सार्थकता है?

मानव जीवन मिला, आर्यक्षेत्र मिला, आर्यधर्म की आराधना का अवसर मिला और सन्त-समागम के साथ वाणी-श्रवण का प्रसग भी मिला, फिर भी आत्मा का पराक्रम नही फूटा तो बताइये कि ये सारी उपलब्धिया क्या निरर्थक नही जा रही हैं? अब तक साधारणत पुण्यवानी भले ही बाधी हो, लेकिन आत्म–समाधि का सूत्र नही सध सका है। प्रभु ने जो समाधि के चार हेतु बताये हैं, उनकी साधना करने से ही आप धार्मिक क्षेत्र मे शूरवीर कहला सकते हैं तथा धर्म के क्षेत्र को चमका सकते हैं।

सकल्प की दृढ़ता हो तो वर्षों का काम पलों में

आत्मा को चरम लक्ष्य की प्राप्ति कब तक हो सकती है– इसमे समयावधि का किसी भी प्रकार से कोई बन्धन नही होता है। वर्षों का काम पलो मे पूरा हो सकता है और पलो के काम मे कई जन्म गुजर सकते हैं। विकास की ऊचाइयो को छूने के लिये आवश्यकता होती है दृढ सकल्प की, समाधि की उत्कृष्टता की। आपने कथा सुनी है कि वर्षो से साधु–धर्म का पालन करने वाले आचार्य तो चेष्टा कर-करके भी समाधि को प्राप्त नही कर सके थे परन्तु तरुण ने एक दिन के साधु–जीवन मे केवलज्ञान की ऊचाई का स्पर्श कर लिया। इसके पीछे थी उसके मन की कठोर सकल्प-स्थिति, हृदय

की कोमलता, सेवा की उत्कृष्ट विचार-श्रेणी तथा विनय की अपूर्व समाधि। विनय के मूल पर उसका धर्म इस तरह पल्लवित हुआ कि अल्पतम समय मे उसको फल की भी प्राप्ति हो गई।

तरुण का साधु वनने का तो कोई भाव ही नही था, सिर्फ मजाक ही मजाक म वह साधु हो गया। फिर भी आत्मशक्तियो को अल्पतम समय मे केन्द्रीभूत करके उच्चतम समाधि को वह जो प्राप्त कर सका उसका कारण उसकी आत्मा का अपूर्व शौर्य ही था।

वीर पुरुष वीरता से स्वीकारते है, वीरता से पालते है

वीर पुरुष जिस बाने को एक बार अगीकार कर लेते हैं अथवा जो शुभ सकल्प वना लेते हैं, उस पर वे वीरतापूर्वक डट जाते हैं। फिर वे उस वाने या सकल्प की समस्त मर्यादाओ की प्राणपण से रक्षा करते हें। उस तरुण शिष्य ने जैसे भी हो, एक वार साधु का बाना अगीकार कर लिया तो उसका ऐसा सुन्दर निर्वाह किया कि अपने जीवन का चरम लक्ष्य ही साध लिया। वीर पुरुष जिस व्रत को वीरता से स्वीकारते हैं, उसका वीरतापूर्वक पालन भी करते हें।

धर्मक्षेत्र मे शौर्य–प्रदर्शन की दृष्टि से शास्त्रो मे चार प्रकार के साधु बतलाये गये हैं। पहली श्रेणी उन साधुओ की कही गई हे जो सिह की तरह साधु-जीवन स्वीकार करते हैं और सिह की तरह ही तेजस्विता से उसका पालन करते हैं। दूसरी श्रेणी के साधु व्रतधारण तो सिह की तरह करते हैं, लेकिन पालन करने मे गीदड की तरह हो जाते हैं अगीकार करते समय सूरमा मगर आराधना करते समय कायर हो जाते हैं। तीसरी श्रेणी उन साधुओ की होती है जो कायर भाव से साधु–धर्म स्वीकार करते हैं लेकिन पालन करते समय उनमे सिह जैसी शूरवीरता पैदा हो जाती है। ओर अन्तिम श्रेणी तो अगीकार करने मे भी कायर और पालन करने मे भी कायर लोगो की होती है। यह चतुर्भगी हे। इसमे विशेषता तीसरी श्रेणी की हे जो कायर की तरह साधु–व्रत ग्रहण करके भी सिह की तरह उसका पालन करते हैं। वह तरुण शिष्य इसी तीसरी श्रेणी मे आता है।

हमारे यहा कहा गया है कि– 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा। सभी स्थानो पर शौर्य का मूल्य आका जाता हे और इस शोर्य का धर्मक्षेत्र मे तो अत्यधिक महत्त्व है। विनय ओर धर्म की आराधना गृहस्थ धर्म मे भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, बल्कि शूरतापूर्वक यह आराधना की जाए तो जीवनक्रम मे आश्चर्यजनक परिवर्तन लाया जा सकता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण राजा प्रदेशी का है।

केशी श्रमण द्वारा धर्म का प्रतिबोध और प्रदेशी राजा का शौर्य-प्रदर्शन

प्रदेशी राजा ने गृहस्थ धर्म को अगीकार किया और उसका शौर्यपूर्वक पालन भी किया, लेकिन जब तक वह सन्त-समागम मे नही पहुचा और उसने गृहस्थ धर्म को अगीकार नही किया, तब तक वह पूर्णतया नास्तिक था। हिसक इतना कि हाथ खून से लथपथ रहते थे। उसका विचार था कि आत्मा नाम का कोई तत्त्व नही हे। उसने बहुतेरे प्रयोग किये, लेकिन वे सभी प्रयोग भोतिक थे, आध्यात्मिक नही। केशी श्रमण के एक ही आध्यात्मिक प्रयोग मे प्रदेशी राजा का जीवन ही बदल गया— वह नास्तिक से आस्तिक बन गया।

एक बार नये घोडो की चाल देखने के लिये प्रदेशी राजा और दीवान दूर तक गये। लौटते समय विश्राम करने को वे एक बगीचे के पास रुके। घोड़ो से उतर कर वे बगीचे मे गये। वे एक वृक्ष की शीतल छाया का आनद ले रहे थे कि राजा की नजर एक महात्मा पर पडी जो उपस्थित श्रोताओ को उपदेश दे रहे थे। राजा के मन मे महात्मा के प्रति एक उपेक्षा-सी जागी। उसके मन मे आया कि यह कौन जड-मूढ बोल रहा है तथा कौन जड-मूढ उसे सुन रहे है? फिर भी उन्होने दीवान से सहजतापूर्वक पूछा— यह उपदेश देने वाले कोन है? दीवान ने कहा— राजन्, ये केशी श्रमण महात्मा है। ये आत्मा के अस्तित्व को मानते हुए आत्मसाधना कर रहे हैं तथा इस साधना के बल पर जो तत्त्व-निष्कर्ष इन्होने निकाला है, उसे ही वे इस समय श्रोताओ को सुना रहे हैं।

राजा ने आश्चर्य से पूछा— क्या ये मुझे आत्मा का स्वरूप समझा सकेगे? तुम तो जानते हो कि ऐसा न कर सकने के कारण मैने कइयो को केद मे डाल दिया तो कइयो को मोत के घाट उतार दिया है। दीवान ने कहा— नही राजन् ये महात्मा विचक्षण हैं। तब राजा दीवान के साथ उस दिशा मे आगे बढा, जिधर केशी श्रमण उपदेश दे रहे थे। धर्मसभा के एक किनारे पर जाकर राजा खडे हो गये तो महात्मा ने राजा को नाम से सम्बोधित किया, कोंन? प्रदेशी राजा हो। राजा को एक बार अचभा हुआ कि महात्मा को उसके नाम का ज्ञान केसे हुआ? फिर सोचा— वह तो सुप्रसिद्ध हे सो महात्मा भी जानते होगे।

तभी महात्मा ने कहा— राजन्, उस वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए तुमने दीवानजी स कहा कि वह उपदेश देने वाला जड़-मूढ कोन हे? क्या यह सही ह? अब तो राजा अवाक रह गया। महात्मा तो मन की बात जानते हैं। मेरी कोई भी इन्द्रिय या कोई भी शक्ति ऐसा करने मे अक्षम हे ओर इन

महात्मा की शक्ति ऐसी अपूर्व है कि ये मेरे मन की कल्पनाओ को भी जान गये। जैसा दीवानजी ने कहा था– यह इनकी आत्मशक्ति ही हो सकती है। इस एक ही बात से राजा नास्तिक से आस्तिक हो गया।

नास्तिक की शंकाएं : आस्तिकता की अवस्था

कई लोगो के मन में ऐसी कल्पनाए ओर शकाए चला करती हैं कि कौन जाने, आत्मा है कि नही? आधुनिक युग के सस्कारो से भी उनका यह विचार बनता है कि इस दिखाई देने वाले भोतिक शरीर के सिवाय आत्मा जैसा कोई तत्त्व नही हें। बिरले ही पुरुष अपने भीतरी तत्त्व को पहिचानते और समझते हैं। यदि आप तत्त्वज्ञान की दृष्टि से आन्तरिक अनुभूति पर चिन्तन करे तो आपको भी आत्मतत्त्व के अवस्थान का अनुभव हो सकता है। इस तत्त्व की वास्तव मे प्रतिसमय आप अनुभूति ले रहे हें, किन्तु उसे समझ न पाने से भूलते जा रहे हैं। कहिये मूलचदजी, अभी आप कहा वेठे हें? यही न? यहा बैठे–बैठे क्या देख रहे हैं। आपका व्यापार व्यवसाय-निवास तो दुर्ग (म प्र) मे है न? क्या अभी आपको दुर्ग दिखाई दे रहा है? आपके पिताजी भी दिखाई दे रहे हैं? नहीं, तो आपको अपनी तिजोरी तो जरूर दिखाई दे रही होगी? समझ ले– इतनी देर तक नही देख रहे थे लेकिन मेरे स्मरण दिलाने के बाद तो सारा नक्शा आपकी आखो के सामने आ गया होगा? अब में आपसे पूछू कि वहा का सारा नक्शा आपके आन्तरिक पटल पर साक्षात् कैसे दिखाई दे रहा है? उसे अपने भीतर आप किस माध्यम से देख रहे हैं? आपकी कोई इन्द्रिय इसमे सहायक नहीं है, बल्कि आख भी बन्द करके अन्दर देखो तो दुर्ग की सड़के, आपका घर, दूकान, प्रियजन, तिजोरी आदि सबके-सब साफ दिखाई देने लगेगे– सोच सकते हें कि यह कौनसा माध्यम है?

ससार मे दिखाई देने वाले सारे तत्त्व पचभूत तत्त्वो से बने हुए हें और शरीर मे भी वैसा ही है किन्तु उसकी जो शक्ति हे वह आत्म–तत्त्व के साथ जुड़ी हुई होती है। यह जो देशनोक मे बेठे–बैठे दुर्ग के दृश्य भीतर देखने से दिखाई दे रहे हैं– इस पर गभीरता से विचार करे, तो फिर आत्मतत्त्व के अस्तित्त्व पर किसी प्रकार की शका शेष नहीं रह जाएगी। किन्तु ऐसी प्रतीति स्पष्ट रूप से साधना के बल पर की जा सकती है। कठिन कार्य कोई करना नहीं चाहता, आपको तो सस्ता सोदा चाहिये। जैसे यहा स उठकर घर जायेगे और बिना मागे थाली सामने आ जाएगी ओर जीम लेगे। इतनी ही आसानी से आप आत्मा को पहिचानना चाहते हैं जो सभव नही है। लड्डू की तरह आत्मा को निकाल कर हथेली पर रखदे तब आप उसे

पहिचान ले– ऐसा नही होता है। आपमे से कई व्यक्ति कई तरह के अनुभव रखते है। एम ए तक पढने वाला एम ए का अनुभव रखता है, व्यापारी अपने व्यापार का अनुभव रखता हे लेकिन क्या आप अपने उस अनुभव को हथेली पर धर कर सबको दिखला सकते है? आप नही दिखला सकते तो क्या यह मान लिया जा सकता है कि आपको कोई अनुभव ही नही है? आप कहेगे कि कोई माने या नही माने, अनुभव तो मुझे अवश्य है। इसी प्रकार अन्दर ही अनुभव करने का वस्तु–विषय है कि आत्मा है। नास्तिकता की शकाए इसी अन्दर के अनुभव से दूर होती है तथा आस्तिकता की अवस्था का निर्माण होता है।

आत्मतत्त्व का अन्यतम प्रभाव तथा प्रदेशी राजा का जीवन–परिवर्तन

प्रदेशी राजा के जीवन मे केशी श्रमण के उस एक ही वाक्य से परिवर्तन आ जाता है। उसकी नास्तिकता की शकाए जैसे गायब होने लगती हैं और अनजाने ही आस्तिकता की आस्था जम जाती है। दोनो के बीच मे काफी लम्बा सवाद हुआ, उसे अभी कहने की स्थिति मे नही हू। लेकिन जब राजा प्रदेशी अपनी नास्तिकता को पूर्णतया समाप्त करके जाने लगा तो केशी श्रमण ने यह कहा– हे राजन्, अब रमणीक बनकर फिर से अरमणीक मत बनना।

यह राजा के जीवन की अरमणीकता क्या थी? राजा की नास्तिकता, उसकी क्रूरता, उसकी हिसा– यह सब उसके जीवन की अरमणीकता–असुन्दता ही तो थी। आस्तिक बन जाने से अब राजा रमणीक हो गया था, इसलिये उसे उपदेश दिया गया कि वह फिर से अरमणीक न बने। बाहर की चमडे की सुन्दरता आप देखते होगे और समझ लेते हैं कि अमुक शरीर बहुत सुन्दर है– रमणीक हे। ऐसी सुन्दरता कोई अर्थ नही रखती हैं। आत्मा के सौन्दर्य को अपने ज्ञानचक्षुओ से देखने का अभ्यास करे तो ज्ञात होगा कि वह सौन्दर्य कितना प्रबोधक होता हे?

प्रदेशी राजा ने उत्तर दिया– भगवन्, अब मै अरमणीक नही बनूगा। पहले सम्पूर्ण राज्य की आय के तीन विभाग किये जाते थे, अब से चार विभाग करूगा ओर चौथा विभाग धर्म के व परोपकार के कार्यो मे व्यय किया जाएगा। मैं धर्मशालाए बनाऊगा, नौकरो को रखूगा, असण पाण खाइम साइम के अनुसार भोजन तेयार करवाऊगा, तथा दीन-दु खी लोगो को शान्ति पहुचाऊगा। अपने व्रतो की आराधना करता हुआ मै आनन्दपूर्वक विचरण करूगा।

यह उत्तर इसी तरह शास्त्र का मूलपाठ है। राजा प्रदेशी के मन पर आत्मतत्त्व का अन्यतम प्रभाव पडा था और वह आस्तिक बन गया। तव, जव वह वारह व्रतधारी श्रावकत्व अगीकार कर रहा था, उसने यह उत्तर दिया। यह चतुष्पदी का स्पष्ट रूप है। उस समय केशी श्रमण मोन रहे। मान रहने का तात्पर्य यह है कि जहा पर दोनो तरह का सग होता हे– आरभ-समारभ की प्रक्रिया भी बनती है तथा धर्म व पुण्य का कार्य भी होता हे तो वह गृहस्थ केवल अपनी स्थिति से करता हें। वहा पर साधु मोन रहे ओर कुछ नहीं कहे। जहा एकान्त पाप कार्य कर रहा हो तो साधु स्पष्ट निषेध करता हे कि यह तुम्हारा काम नहीं है। जहा एकान्त धर्म का काम हे, वहा पर साधु प्रेरणा देता हे। जहा वैसी प्रेरणा देने की स्थिति नहीं होती तो साधु मौन रहता हे। साधु के मोन रहने मे वडा रहस्य समाया हुआ होता है। कभी लोग सोच लेते हें कि महाराज किसी बात पर मौन हैं तो यह उनका समर्थन प्राप्त हो गया हे तो ध्यान रखिये यहा मौन का अर्थ समर्थन नहीं होता है। जहा तटस्थ भाव से रहते हैं, वहा सर्वथा निवृत्ति होती है। राजा ने जहा परोपकारी कार्यो सम्वन्धी कार्यक्रम रखा कि वह धर्मशालाए बनवायेगा आदि तो वह यदि एकान्त पापकार्य होता तो केशी श्रमण झट कह देते कि ऐसा मत करो– यह पापकार्य है। वहा उन्होने निषेध नही किया। इसका कारण यह था कि वहा एकान्त पाप नहीं था धर्मकार्य भी साथ में था।

आत्मतत्त्व की राजा प्रदेशी को ऐसी प्रतीति हुई कि उन्होंने श्रावक के बारह व्रतो की आराधना के साथ पड़िमा की साधना की। श्रावक बनकर विनय की साधना की और समाधि प्राप्त की। तब वे समभाव मे रमण करने लगे। राजा प्रदेशी के जीवन मे ऐसा रमणीक परिवर्तन आया।

राजा की धर्मक्षेत्र की शूरवीरता एवं परिवर्तन का क्रम

प्रदेशी राजा ने धर्मक्षेत्र मे प्रवेश करके अपने जीवन-परिवर्तन की जो शूरवीरता दिखाई, उस परिवर्तन के क्रम को उन्होंने जारी रखा। महारानी भी नास्तिक थी। जब उसने देखा कि राजा बदल गये हैं और श्रावक बन गय हैं तो वे अब मेरे क्या काम के? तव महारानी के मन मे यह दुर्भावना आई कि अब महारानी पद के सुख तो गये, राजमाता के सुख भागना ही ठीक रहगा यानी कि अपने पति की हत्या की बात उसके दिमाग मे पैदा हुई। उसने अपने पुत्र को बुलाया और उसे अपनी योजना बताई। उसे सुन कर पुत्र न रोषपूर्वक कहा– माता, यह तुमने क्या सोचा? मुझे ऐसा राज्य नही चाहिये और न मै दुष्ट नीति से राज्य करना चाहता हू। महारानी असमंजस मे पड़ी

इसलिये व्रतों को अगीकार करो, लेकिन उनका पालन करने मे अपनी शूरवीरता दिखाओ, तभी आपका भी उद्धार हे और धर्मक्षेत्र की भी शान हे।

आज जीवन-चरित्रो की आदर्शता के प्रसग से जिन महापुरुषो का स्मरण किया जाता हे, वह इसी कारण कि उन्होने धर्मक्षेत्र मे किसी-न-किसी रूप मे शौर्य दिखाया है। धर्मक्षेत्र के शूरवीरो के नाम अमर हो जाते हे।





आश्रव तत्त्व क्या है?

सुज्ञानी जीवा भजलो रे जिन इक्कीसवा
जीव अजीव बध ये तीनो, ज्ञेय यथारथ जानो।
पुण्य पाप आश्रव परिहरिये हेय पदारथ मानो।।

परमात्मा के भजन की विभिन्न विधिया बतलाई जा रही हैं। परमात्मा का भजन भी है और तत्त्वो का स्वरूप-वर्णन भी। इस आत्मा को सम्बोधित करते हुए कवि कहते हैं कि इस सारे ससार का सचालन नव तत्त्वो द्वारा होता है। इनमे से तीन तत्त्वो को ज्ञेय, तीन तत्त्वो को हेय तथा तीन तत्त्वो को उपादेय कहा है। उपादेय तत्त्व बताये गये है– सवर, निर्जरा तथा मोक्ष। पुण्य, पाप तथा आश्रव तत्त्वो को हेय कहा गया है। शेष तीन तत्त्व जीव, अजीव तथा बध ज्ञेय हैं।

तत्त्वों के ज्ञेय, हेय, उपादेय होने का महत्त्व

नव तत्त्वो के लिये यह तो तीन प्रकार का कथन किया गया है, वह एकान्त रूप नही है। यह नही है कि जिन तत्त्वो को ज्ञेय कहा गया है, उन्हे ही जानो और शेष तत्त्वो को जानो ही नही अथवा ऐसा भी नही है कि जिन तत्त्वो को हेय बता दिया, उन्हे पहले से ही त्याग दो। वस्तुत इन तीनो विशेषणो द्वारा उस–उस तत्त्व का मूल स्वरूप तथा अन्तिम परिणति का विश्लेषण किया गया है।

जीव, अजीव तथा बध तत्त्वो को जाननेयोग्य तत्त्व कहा है। यह सारा ससार जीव, अजीव– इन दोनो तत्त्वो का ही है। या तो कोरे जड पदार्थ हैं जिनकी गिनती अजीव तत्त्व मे है अथवा चैतन्य जीव हें जो अजीव-रूप शरीर के साथ मिलकर दृश्य-रूप दिखाई दे रहे हैं। जीव तथा अजीव तत्त्वो का जो सम्मिलन हे वह बधतत्त्व के कारण है। बधतत्त्व की वजह से ही आत्मा के साथ कर्मो का बध हे तथा उसका ससार मे भटकाव है। इसलिये

इन तीनो तत्त्वा को ज्ञेय कहा गया है, जो ससार के चलने के मूल मे रहे हुए हैं।

सवर, निर्जरा एव मोक्षतत्त्व अन्ततोगत्वा उपादेय हैं। आत्मा का चरम लक्ष्य सम्पूर्ण सलग्न कर्म–समूह को नष्ट करके अपने मूल शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है और यह प्राप्ति ही मोक्ष कही गई हे। आत्मा ही मोक्ष मे परमात्मस्वरूप को ग्रहण करके ज्योति मे ज्योतिरूप सदा-काल के लिये स्थित हो जाती है। मोक्ष ग्रहण करने योग्य तत्त्व है तो उसे प्राप्त कराने वाले तत्त्व सवर और निर्जरा तत्त्व भी उपादेय कहे गये हैं। सवर का अर्थ हे आते हुए कर्मो को रोकना तथा लगे हुए कर्मो को नष्ट करने का नाम निर्जरा तत्त्व हे। इन दोनो तत्त्वो की सहायता से आत्मा सम्पूर्ण कर्म-मैल से मुक्त होती है अत ये भी उपादेय तत्त्व कहे गये हैं।

हेय अर्थात् त्यागे जाने वाले तत्त्व बताये गये हैं– पुण्य, पाप तथा आश्रव- तत्त्व। आश्रव का अर्थ है कर्मो का आना। कर्म जिन द्वारो से आकर आत्मा से सलग्न होते हैं, वह आश्रव तत्त्व हे। कर्म दो प्रकार के आते हे। शुभ करणी के फलस्वरूप पुण्यकर्म तथा अशुभ करणी के फलस्वरूप पापकर्म। पुण्यकर्म का फल शुभ ओर पापकर्म का फल अशुभ होता हैं।

पापतत्त्व को प्रारभ से त्यागिये। लेकिन पुण्यतत्त्व का त्याग अन्त मे जाकर करना ही होता है। पहले तो पुण्यकर्म का बध आत्मविकास मे सहायक बनता है। पुण्यकर्म के कारण ही मनुष्य को जन्म, सन्त-सम्पर्क आदि–आदि कई सुविधाओं की प्राप्ति होती है जिनकी सहायता से आत्मसाधना का कार्य सहज बनता है। जब तक कर्मबध की स्थिति है, कर्मो का आना जारी रहगा और आश्रव तत्त्व भी सक्रिय रहेगा।

आश्रव तत्त्व का अर्थ है कर्मो का आना और आने का द्वार

जब तक आत्मा के साथ पुण्य और पापकर्मो का बध जारी रहता है तब तक आश्रवतत्त्व का काम भी जारी रहता है क्योंकि कर्मो के आने का नाम ही आश्रवतत्त्व है। कर्मो का बध तभी सभव होता है जब कर्मो के आन के द्वार हो। किसी भी रास्ते से कोई तत्त्व आता है तो एक स्थान पर उसका बोध हो सकता है। जब कारखाने की रुई की गाठे बाधी जाती हैं तो एक स्थान से कच्ची वाली गाठो को अन्दर लेते हैं और फिर यन्त्रो द्वारा उन्हें दबाकर उन पर पत्तिया कसी जाती है। गाठो के अन्दर लने का जो मार्ग या द्वार है, उसी से गाठो को अन्दर ले जाते हैं और उस मार्ग या द्वार पर देखने से ही ज्ञात होता है कि गाठे अन्दर जा रही हैं अथवा नही। ऐसी ही प्रक्रिया आश्रवतत्त्व की होती है।

एक नदी का प्रवाह चल रहा है। उस पर बाध बना लिया जाता है तो वह उस पानी को बाध देने से बना। पानी बध गया– यह बधतत्त्व है। उस बाध मे फिर पानी जिस नदी या अन्य नालो के जरिये आता है, वह आश्रवतत्त्व है। बाध मे रहा हुआ पानी पाप-पुण्यकर्म रूप है। जीवन मे चाहे वृत्ति हो अथवा प्रवृत्ति या कर्म-बध हो– वह दो प्रकार का होता है– शुभ एव अशुभ। मनुष्य सोचता है वह वृत्ति है तथा करता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं तथा वृत्ति एव प्रवृत्ति के अनुसार ही कर्मों का बध होता है। वृत्ति एव प्रवृत्ति शुभ रहती हैं तो पुण्यकर्म का बध होता है एव वृत्ति प्रवृत्ति अशुभ है तो पापकर्म का बध होता है।

इस प्रकार जीवन मे जो ये दो प्रकार के कर्म आत्मा के साथ सलग्न बनते है– ये जिन रास्तो से प्रवेश करते हैं, वे रास्ते आश्रव के कहलाते है। कर्मों का बध आत्मा के साथ होता है लेकिन आने के रास्तो को आश्रव कहा है। इस आश्रव-तत्त्व के स्वरूप को समझाने के लिये ज्ञानीजन ने विस्तृत विवेचन दिया है।

आश्रव के मुख्य द्वार है मन तथा पाचो इन्द्रिया। ये साधारण द्वार कहलाते है। इनके द्वारा शुभ कर्म भी आते है तथा अशुभ कर्म भी आते हैं। ये ही मार्ग हैं जिनका निरोध कर दिया जाए तो कर्म रुक भी सकते हैं। इन्ही मार्गों से लगे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा इन्ही मार्गों की सफल साधना बनने पर मोक्ष की अवस्था भी प्राप्त होती है। ये द्वार ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध न्यूनाधिक अशो मे सभी तत्त्वो से जुडा हुआ है।

आश्रव का केन्द्रबिन्दु मन तथा मन की सहयोगिनी इन्द्रियां

आश्रव की दृष्टि से शुभ और अशुभ– जो दो प्रकार की वृत्तिया हैं, उनका केन्द्रबिन्दु मन है। मन की सहयोगिनी हैं पाचो इन्द्रिया। मन के अन्दर जब अशुभ भावनाए जाग्रत् होती हैं तब मन के साथ पाचो इन्द्रिया भी उन भावनाओ की अनुरूप प्रवृत्तियो द्वारा कर्म बध मे तत्पर बन जाती हैं। यही तत्परता शुभ भावनाओ के अनुरूप शुभ प्रवृत्तियो द्वारा कर्मबध मे भी इनकी रहती हे। आने के रास्तो की नजर से इनको आश्रव कहा गया है, लेकिन दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो मे बडा अन्तर रहता हे। एक रास्ते से मकान मे कोयला भरा जाता हे ओर उसी रास्ते से मकान मे कस्तूरी भरी जाती है तो क्या कोयले और कस्तूरी मे कोई अन्तर नहीं हे? दोनो एक ही रास्ते से आते हैं।

कल्पना करे कि एक कुड मे एक नल के माध्यम से इत्र भरा जा रहा है तथा दूसरे नल के माध्यम से उसी कुड मे गटर का पानी भरा जा रहा है।

अगर यह सोचे कि कुड मे इत्र भरना है तो गटर के पानी वाले नल को बन्द करके पहले कुड के भीतर से गन्दे पानी को बाहर फेकना होगा। कुड को साफ करने के बाद उसमे इत्र भरा जा सकेगा। इत्र की सुगन्ध प्रियकारी लगेगी। इसी कुड का दृष्टान्त अपने अन्त करण पर घटावे। इसमे गदे या अशुभ विचार भी आते हैं और अधिकाशत ऐसे विचार ही आते हैं। ऐसी स्थिति में अन्त करण विचारो की गन्दगी से घिरा रहता है। अन्त करण मे इत्र की महक पैदा करनी हो तो इस गन्दगी के आने के रास्ते को भी रोकना होगा तथा भीतर रही हुई गन्दगी को साफ भी करना होगा। फिर शुभ विचारो का इत्र इस अन्त करण को सुगन्धित बना सकेगा।

अत आश्रव से बचने का मुख्य कार्य है कि मन और इन्द्रियो की गति को नियन्त्रित करके शुभता की ओर मोडो। पुण्यकर्म सहायक बनता है– यह ठीक है लेकिन आखिर जाकर तो इसका भी परित्याग ही करना होता है। ऐसी स्थिति मोक्ष में जाने के समय ही उपस्थित होती है, जब मन एव इन्द्रियो की गति का क्रम समाप्त हो जाता है। किन्तु जब तक मन एव इन्द्रिया गतिशील रहते हैं तब तक कर्म बध की स्थिति बनी रहती है और जब तक यह स्थिति है तो आश्रवतत्त्व भी कार्यरत रहता है। इस दृष्टि से मन और इन्द्रियो के निग्रह का अर्थ है कि उनकी समस्त प्रवृत्तिया इतनी शुभ और निष्काम बन जावे जिनसे या तो पुण्यकर्म का बध हो अथवा कर्मों की निर्जरा। अशुभ प्रवृत्तियों को बन्द करके अशुभ कर्मो के आने पर ज्यादा से ज्यादा रोक लगाई जानी चाहिये।

जीवन मे विकास का अथवा आत्मा की साधना का यही लक्ष्य है कि मन एव इन्द्रियों की सक्रियता इस आत्मा को मोक्ष की दिशा मे अग्रसर बनावे। पापकर्म के बध को ज्यादा से ज्यादा रोके तो पुण्यकर्म को इस गति के सहायक के रूप मे उपार्जित करे।

आश्रव का निरोध तथा कर्मों से मुक्ति पाने का मार्ग

अशुभ वृत्तियों एव प्रवृत्तियों का त्याग सरल नहीं होता है और इस कारण आश्रव का निरोध आसान नहीं है। ससारी आत्मा को अपनी अज्ञान-दशा मे अशुभ वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया अधिक प्रिय लगती हैं और वह उनमें रमी रहकर पापकर्म का बध करती है। इन वृत्तियों एव प्रवृत्तियों का क्रमश त्याग करना होता है। इस त्याग के लिये भी मन तथा इन्द्रियो को साधे, तब काम हो सकता है। यह साधना जितनी पुष्ट बनती जाएगी, उसी क्रम से त्याग की उत्कृष्टता भी बढती जाएगी। पहले यदि इतना भी त्याग किया जाए कि मैं अकारण मैं हिंसा नहीं करूगा, जानबूझकर किसी प्राणी को नही मारूगा एवं

अकारण निरपराध प्राणियो का हनन नही करूगा, तब भी हिसा के त्याग का शुभारभ हो जाएगा तथा यत्किंचित् रूप से आश्रव का निरोध हो सकेगा।

आपको पहले मैंने अनर्थ पाप को रोकने की बात इस कारण बताई है कि अभी आप सार्थक पाप को रोकने की स्थिति मे नही है। अनर्थ पाप का त्याग कर लेने पर भी काफी अशो मे आश्रव का निरोध हो जाता है। जैसे आप स्नान करना भी चाहेगे तो अनर्थ पाप का त्याग कर लेने पर घडो पानी की बरबादी नही करेगे बल्कि कम से कम आवश्यक पानी से काम चला लेगे। घडो पानी के नष्ट करने पर जो रोक लगी, उससे अनर्थ पाप रुक गया। दिनचर्या म पग-पग पर आपके सामने ऐस उदाहरण आते हैं कि जिनमे अनर्थ पाप का रोकने की चेष्टा रखी जावे तो काफी अशो मे कर्मबध को रोका जा सकता है। इस तरह अनावश्यक पाप-प्रवृत्ति पर भी रोक लगा दी तो उससे आश्रव का निरोध होगा तथा इस निरोध से सवर होगा।

सवर आत्मा का निज गुण है। यथासाध्य पाप-प्रवृत्तियो के निरोध से पाप-कर्म का बध रुकता है तो उतने अशो मे आत्मा का कर्ममैल से आच्छादित होना रुकता है। जितना सवरतत्त्व का विकास होगा, आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल बनगा। अनर्थ पाप को रोकते-रोकते फिर मन तथा इन्द्रियो की गति इतनी सध जाएगी कि सार्थक पाप को भी कम करते जाने की प्रवृत्ति का विकास होने लगेगा। सवर से आने वाले कर्मो पर रोक लगेगी तो सार्थक पाप के परित्याग से निर्जरा का क्रम भी बनेगा। मन एव इन्द्रिया ज्यो-ज्यो आत्म-साधना म निरत बनगी, त्यो-त्यो कर्मो से मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त बनता जाएगा ओर जब कर्मो का परिपूर्ण क्षय हो जाएगा, आत्मा परमात्मस्वरूप का वरण कर लेगी।

संवरतत्त्व का मार्ग सम्यक्त्व का मार्ग होता है

आश्रव-निरोध का जो सवरतत्त्व का मार्ग है, उसे समझने की आवश्यकता है। आश्रवतत्त्व सक्रिय रहता है वह मिथ्यात्व के कारण, क्योकि मिथ्या वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया आत्मा को मलिन बनाती ह और पापकर्मबध बराकटोक हाता रहता हे। किन्तु सवरतत्त्व का मार्ग तभी साफ हाता है जब मिथ्यात्व को रोका जाए एव अपने अन्दर सम्यक्त्व का विकास किया जाए।

शुद्ध सम्यक्त्व की स्थिति का निर्वाह आन्तरिक दृढता के आधार पर हा सफलतापूर्वक किया जा सकता है। जीवन म जब तक अनुकूलता हा तब तक ता सही श्रद्धा बनी रह सकती है लेकिन सम्यक्त्व क निर्वाह की परीक्षा वहा हाती है जब प्रतिकूल परिस्थितिया सामने हा, फिर भी सुदव, सुगुरु तथा सुधर्म क प्रति अगाध श्रद्धा बनी रहे। आप अपन जीवन म अनुभव करते हाग

कि यह श्रद्धा कई वार तो छोटी-मोटी आपदाओ अथवा भ्रान्तियो से ही लड़खड़ा जाती है। ऐसी श्रद्धा कच्ची मानी जाएगी ओर ऐसा सम्यक्त्व सदेव शुद्धता के आधार पर टिका हुआ नहीं रह सकेगा। जरा-सा विपरीत वातावरण आते ही श्रद्धा तिलमिला जाए तो यह समझना चाहिये कि सम्यक्त्व पुष्ट पृष्ठभूमि पर आरूढ नही हुआ है।

इस सम्बन्ध मे एक रूपक याद आ गया हे। एक स्थल पर सन्त गाव की ओर आ रहे थे। गाव के वहुतेरे लोग स्वागत–सत्कार हेतु सन्तो के सामने आ रहे थे। सन्त तव तक गाव के निकट नही पहुचे थे तो भक्तो ने उधर से आते एक ग्रामीण भाई से पूछा– हमारे महाराज उधर से आ रहे हें, क्या तुमने उन्हे देखा? ग्रामीण ने कहा– हा, वे नदी मे पानी पी रहे थे। ये शब्द सुनकर भक्तो के पैर वहीं रुक गये। सवने इस वात पर अश्रद्धा पेदा करली ओर अपने घरो को वापिस लोट गये। सन्त आये ओर धर्मस्थान का पता लगाकर वहां ठहर गये। एकाध भक्त दिखाई दिया तो सन्तो ने पूछा कि पिछली बार तो यहा काफी भक्त एकत्रित हुए थे, इस वार वे सव कहा चले गये हे? उसने सन्तो को सबकी अश्रद्धा का कारण वता दिया। सन्तो को वडा विचार हुआ और सोचा कि इसका निष्कर्ष तो निकालना चाहिये। यह सोचकर उन्होने उस ग्रामीण भाई से पूछा जिसने सन्तो द्वारा नदी मे पानी पीने की बात बताई थी कि क्या उसने स्वय ने सन्तो को नदी मे पानी पीते देख था? वह इन्कार हो गया और बोला– मुझे तो अमुक पटेल ने कहा था। उस पटेल से पूछ तो उसने कहा– हा, मैंने देखा था। पटल को कहा गया कि जब नदी बिल्कुल सूखी है– पानी कही भी नही है तो उसने सन्ता का नदी का पानी पीते कैसे देख लिया? तव पटेल ने कहा– मैंने नदी का पानी पीने की बात थोड़े ही कही थी सन्त तो अपने पात्र म से पानी पी रहे थे।

जब बात का इतना स्पष्टीकरण हुआ और उसका ज्ञान सब भक्तो तक पहुचा तो सभी अफसोस करन लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धा के प्रश्न पर गहरी छानबीन करनी चाहिय और इस तरह उतावलपन म अश्रद्धा एव मिथ्यात्व की तरफ नही बढ जाना चाहिये।

सम्यक्त्व का भाव जितना मजबूत बनेगा, उतना ही सवर का कर्म-निरोध आसान हा जाएगा। सवर का अर्थ हे आश्रव-निरोध और आश्रव-निरोध कर्मबंध का रोक कर आत्मा का हल्की बनाता हे तथा उस कर्मो स समग्र मुक्ति की आर आग बढाता हे।

मोक्षतत्त्व की प्रतिष्ठा सुदृढ़ सम्यक्त्व के धरातल पर

श्रद्धा जब तक मजबूत नही बनती हे, तब तक मनुष्य भ्रान्तियो के वशीभूत होकर डगमगा जाता है। सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म के प्रति परीक्षा बुद्धि के साथ सच्ची श्रद्धा होनी चाहिये और ऐसी सुदृढ श्रद्धा होनी चाहिये कि वह किसी भी कीमत पर डिगे नही। शुद्ध श्रद्धा ही सम्यक्त्व का आधार होती हे और शुद्ध श्रद्धा की विद्यमानता मे मिथ्यात्व का प्रवेश सभव नही रहता हे। एक बार मिथ्यात्व'को हटा दिया जाए तो फिर आत्मविकास का क्रम कठिनता से ही टूटता है, क्योकि मोक्षतत्त्व की प्रतिष्ठा ही सुदृढ सम्यक्त्व के धरातल पर स्थापित होती है।

सम्यक्त्व के परिपुष्ट धरातल पर ही आत्मा मे व्रतग्रहण की निष्ठा उत्पन्न होती है और व्रतो मे भी वह श्रावकव्रत से लेकर साधुव्रतो की उच्चता तक पहुचती है। यही उच्चता ऊपर चढती हुई मोक्षप्राप्ति तक मे प्रतिफलित होती है। साधना के क्रम मे भी सम्यक्त्व की सदा सुदृढता आवश्यक है क्योकि उच्च साधना की अवस्था मे भी यदि सम्यक्त्व डगमगा जाए तो साधी हुई साधना भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और आत्मा मिथ्यात्व के अधकार मे डूब जाती है।

सम्यक्त्व मे इस दुष्टि से आत्मा की सुदृढ आस्था बनी रहे– इसके लिये मन एव इन्द्रियो का निग्रह ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आश्रव के ये द्वार जब तक अशुभ वृत्तियो के अधीन रहेगे तथा अशुभ कर्मो के लिये खुले रहेगे तब तक आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध ही बना रहेगा। ये द्वार आत्मानुगामी बनने चाहिए जिससे आश्रव का निरोध हो, सवर कार्यशील बने, निर्जरा सफलतापूर्वक हो तथा मोक्ष की दिशा के बादल छट जाए।

सम्यक्त्व के प्रति सुदृढ़ता के साथ प्रगतिशील बनें!

आश्रवतत्त्व के स्वरूप को समझ कर पापकर्मो के आगमन को रोके, सहायक पुण्यकर्म का उपार्जन करे तथा मिथ्यात्व के गड्ढे मे से बाहर निकल कर आ जावे। इसके लिये मन एव इन्द्रियो को आत्माधीन बनावे तथा सम्यक्त्व के प्रति अपने मन मे अडिग आस्था उत्पन्न करे– ऐसी अडिग आस्था जैसी अरणक श्रावक ने देव द्वारा उपस्थित भयकर कष्टो को सहकर भी सुस्पष्ट रूप से रखी। प्राण भले चले जाए पर सुधर्म आदि के प्रति श्रद्धा नही जानी चाहिये। ऐसी सुदृढ आस्था आत्मा को अवश्य ही सम्पूर्ण कर्मो से मुक्ति दिलाती है।





अक्षर अनश्वर होता है।

श्री महावीर नमो वर नाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी
सूत्र विनय आचार तपस्या, चार प्रकार समाधि, रे प्राणी।
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव अराध, रे प्राणी।।

प्रार्थना मे प्रभु महावीर को वरनाणी यानी श्रेष्ठ ज्ञानी कहा है अर्थात् उनके श्रेष्ठ ज्ञान से जो पवित्र वाणी निकली, वही वाणी आज सारे ससार को कल्याण का मार्ग दिखा रही है। जिस वाणी मे चारित्र का ओज भरा हुआ है, जिस वाणी मे शुद्ध आचार एव व्यवहार की पद्धति का विश्लेषण है, जिस वाणी मे परम अनुभूति का पुट है तथा जिस वाणी का प्रवाह सम्यक्त्व की शुभ धारा के साथ बहता है, उस महावीर–वाणी का स्वरूप विलक्षण है।

वाणी के प्रवाह में अनन्त शान्ति तक

महावीर–वाणी का स्वरूप विलक्षण इस कारण है कि जो भी भव्य आत्मा एक बार इस वाणी के प्रवाह मे अपने-आप को आप्लावित कर लेती है उसकी प्रगति अनन्त शान्ति के चरम लक्ष्य तक हो जाती है। वाणी को सुनकर प्रबोध होता है और सच्चा प्रबोध ज्ञान के बन्द दरवाजों को खोल देता है। ज्ञान का प्रवेश आचरण के पुरुषार्थ को जगाता है, फिर ज्ञान एव क्रिया की साधना उस आत्मा को अनन्त शान्ति प्रदान करती है। जो अनन्त शान्ति है, वही आत्मा की समाधि है।

कवि ने सकेत दिया है कि महावीर प्रभु के चरणो मे नमस्कार करके उनके प्रवचनो का, श्रेष्ठ वचनो का जो सार है उसको हृदय मे धारण करले। हृदय मे धारण करने का अभिप्राय है कि उस सार पर निरन्तर चिन्तन–मनन करे तथा उसके अनुसार अपना चारित्र ढाल ले। यह प्रवचन–सार आत्मा

दबे हुए ज्ञान एव चारित्र को जगाने वाला होता हे। प्रवचन–सार आत्मिक ज्ञान को जगाता है तो उसके सही अर्थ के अनुसार किया गया आचरण समाधि प्रदान करता है।

वाणी के अनुसार जब ज्ञान ओर क्रिया की आराधना चलती हे और मन उस आराधना मे रम जाता है तो आन्तरिक शान्ति अवश्य ही प्राप्त होती है। इसी आन्तरिक शान्ति का नाम ही समाधि है। आत्मिक समाधि हे, वही आत्मिक आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती हे। इस कारण महावीर-वाणी वस्तुत आत्मिक शान्ति एव आत्मिक आनन्द का प्रवाह बहाने वाली है। भव्य आत्माए इस प्रवाह मे बहकर अपने स्वरूप को उज्ज्वल बनाती रहती हैं।

समाधि की साधना : आत्मभाव की आराधना

यह आत्मिक समाधि, यो ही प्राप्त नही हो जाती है। इसके लिये आत्मा को साधना करनी पडती है और यह साधना हे आत्मभाव की आराधना अर्थात् ससार के बाह्य पदार्थो और यहा तक कि शरीर के मोह से भी दूर होकर आत्मस्थ बनना। आज ससार मे अधिकाश आत्माए बाह्य भौतिक पदार्थो मे अपनी इन्द्रियो तथा अपने मन को लगाकर स्वय परतत्र हो रही हैं तथा उन के नचाये नाच पर नाच रही है। इससे राग-द्वेष की वृत्तियो तथा विषय-कषाय की प्रवृत्तियो मे रगते रहने के कारण उन आत्माओ का स्वरूप अत्यन्त मलिन बन रहा हे। ऐसी मलिन आत्माओ को भला शान्ति कहा से प्राप्त हो सकती है? समाधि के स्वरूप का वे आत्माए कैसे अनुभव ले सकती है?

समाधि के आत्मिक आनन्द को प्राप्त करना है तो इस दृष्टि से आत्मभाव की आराधना के लिये तत्पर होना पडेगा। इस तत्परता का अर्थ है कि पहले इन्द्रियो तथा मन को सयमित बनाकर उनके सचालन की डोरी आत्मा अपने हाथ मे ले। आत्मा बाह्य पदार्थो की ममता से अपने को स्वतत्र बना लेगी तभी इन पर नियत्रण कर सकेगी। यह नियत्रण आत्मा के हाथ मे आ गया तो समझिये आत्मस्थ होने की स्थिति बन गई है। जो आत्मस्थ होना आरभ कर देता है, उसके लिये समाधि को प्राप्त करने का द्वार भी खुल जाता है। जो आत्मस्थ होता है, उसे ज्ञान का आलोक भी मिलता है तो आचरण की कठोरता भी प्राप्त होती है। आत्मा के स्वरूप का परिमार्जन ही उसका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है– कर्ममैल को धोने मे उसका समस्त पुरुषार्थ जुट जाता है। फिर ज्यो–ज्यो मैल साफ होता है उसमे उज्ज्वलता बढती है– हल्कापन आता है और यह अवस्था आत्मा को शान्ति तथा आनन्द देने वाली होती है।

आत्मभाव की आराधना से जो समाधि का श्रीगणेश होता है वह समाधि आराधना की कठोरता के साथ निरंतर गहरी होती चली जाती है।

वाणी की महिमा : ज्ञान का अनन्त आलोक

महावीर प्रभु, जिन्होंने परमपद को प्राप्त किया, जिनकी वाणी सारे लोक में व्याप्त हुई, जिनकी चरण-रज से अनेक प्राणियो का उद्धार हुआ एव परम समाधि प्राप्त हुई उनकी वह चरण-रज आज भी सारे ससार मे फैली हुई है। यहा चरण-रज से चारित्र का अर्थ लिया गया है। उनकी वाणी से जिस निर्मल चारित्र का उद्भव होता है, वही परम समाधि का दाता है। उनके चारित्र की गणना शरीर के प्रत्येक अवयव एव आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे समाधि के परम स्वरूप को भरती हुई ससार के सामने वाणी के रूप मे प्रचलित हो रही है।

ऐसी विलक्षणता के कारण प्रभु की वाणी को सूत्र की सज्ञा दी गई है और यह सूत्र आत्मिक समाधि का एक कारण माना गया है। प्रवचन-साररूप इन सूत्रो को समझ कर इनके आशय के अनुरूप यदि जीवन को ढाल दिया जाए तो वह कार्य इस आत्मा के लिये परम समाधि का होगा। वाणी की ऐसी महिमा है कि इसके द्वारा पहले ज्ञान का अनन्त आलोक उस आत्मा के लिये दृश्यमान हो जाता है। इस प्रकाश मे वह अपनी परम समाधि का मार्ग आसानी से खोज लेती है।

सूत्र का स्वरूप सदा सक्षिप्त हुआ करता है। इस म गूढ़ अर्थ थोड़े शब्दो मे भरा हुआ होता है। अतः बड़े अर्थ को सक्षिप्त रूप म स्वीकार करना चाहिये। सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि उनके अक्षर अति अल्प है, थोड़े है, किन्तु वे अक्षर इतने अधिक सारयुक्त हैं कि उनका सार सारे विश्व मे व्याप्त हो रहा है। सूर्य का पिड छोटा-सा दीखता है, लेकिन सूर्य की किरणे कितनी दूर–दूर तक प्रकाश को फैला देती है कि दुनिया का कोई भी कोना अधकारपूर्ण नही रहता है। वे एक ही दिशा को नहीं, सभी दिशाओ को प्रकाशित कर दती है। सूर्य ता फिर भी एक दृष्टि से बड़ा पिड है– दूर होने से दृष्टि मे छोटा दिखाई देता है लेकिन वाणी का सूर्य तो सूत्ररूप मे इतना छोटा है फिर भी उसका प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भी अधिक व्यापक होता है। इससे समग्र विश्व के कल्याण की दिशा दिखाई देती है।

ऐसे सूत्रो के गभीर अर्थ को हृदयगम करने की आवश्यकता है। यह अर्थ यदि आचरण मे उतर जाए तो व्यक्ति परिवार समाज, राष्ट्र तथा विश्व

के सर्वांगीण विकास का मार्ग निष्कटक बन जाए– विश्व शान्ति का अमोघ उपाय उपस्थित हो जाए। इन थोडे अक्षरो मे महान् अर्थ की गहनता भरी हुई है– ज्ञान का अनन्त आलोक फैला हुआ है।

गूढ़ अर्थ के वाहक अक्षर : समाधि की ओर अग्रसर आत्मा

शास्त्रकारों ने सूत्ररूप थोडे अक्षरो का वर्णन करते हुए बताया है कि केवलज्ञान को भी अक्षरो की उपमा दी है यानी कि सर्वोच्च ज्ञान भी अक्षरमय कहा गया है। क्षर का अर्थ है खिरना या नष्ट होना, तो जो खिरे नही– नष्ट नही होवे उसका नाम है अक्षर। ज्ञान की अमरता तो अक्षर मे व्यक्त होती है। ऐसे अक्षर की व्याख्या दो तरह से है– एक तो सूत्र के रूप मे इसकी व्याख्या है और दूसरे अक्षर की केवलज्ञान के रूप मे व्याख्या है। सूत्र को भी अक्षर कहा है और केवलज्ञान को भी अक्षर, जिसका तात्पर्य यह है कि ये सदाकाल रहने वाले ज्ञान के स्रोत है। अक्षर का अर्थ है शाश्वत ज्ञान।

गूढ अर्थ के वाहक एव शाश्वत ज्ञान के भडार ऐसे अक्षरो को, जो अपनी आत्मा से पढता है, वह समाधि की ओर अवश्य ही अग्रसर होता है। सूत्रो से द्रव्य–अक्षर–रूप ज्ञान प्राप्त करके जब वह केवलज्ञान के रूप मे विराट् रूप ले लेता है तो वह आत्मा की अनन्त समाधि का कारण बनता है। वह आत्मा स्वय प्रकाशित होती है तथा सारे ससार को प्रकाशित करती है। ज्ञान के प्रारभ से लेकर केवलज्ञान तक पहुचाने वाला यही अक्षर होता हे, किन्तु महत्त्वपूर्ण होता है अक्षर का प्रयोग। यह प्रयोगकर्ता का कौशल होता हे कि गागर मे सागर कैसे भरदे? प्रयोग का यह कोशल भी उन्हे प्राप्त होता है जो आत्मभाव की गहराइयो मे उतर कर आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश का दर्शन करते हें– उस प्रकाश को अपने आत्म–प्रदेशो मे भर लेते है। तब वह प्रबुद्ध आत्मा स्वय प्रकाशित हो उठती हे– दीप्तिमान हो जाती हे। वह स्वयप्रकाशित आत्मा उस सूर्य पिड के तुल्य बन जाती हे जिसकी किरणे जहा भी पडती हे, अधकार को हटाकर कण–कण मे प्रकाश की रेखाए भर देती हें। तब वह आत्मा उन अक्षरो के गूढ अर्थ से स्वय भी प्रकाशित होती हे– अनन्त आनन्द का स्वय भी रसास्वादन करती हे तथा अपने अपूर्व प्रकाश एव आनन्द से सम्पूर्ण विश्व को भी आलोकित एव आनन्दित वनाती हे। ऐसी महान् आत्माओ की सूत्र–रूप वाणी इस दृष्टि से गूढ अर्थ की वाहक होती हे तथा अन्य भव्य आत्माओ की समाधि का शुभ कारण भी वनती हे।

अक्षरों का भव्य प्रयोग : टीकाकारों का विस्तृत विश्लेषण

केवलज्ञान के उच्चतम स्तर पर पहुच कर जिन परम ज्ञानी आत्माओ के अन्तःकरण से जो कल्याणक वाणी उद्भूत होती है, उससे बढकर अक्षरो का भव्य प्रयोग दूसरा नहीं होता है। उस वाणी का एक-एक अक्षर इतने गूढ अर्थों का वाहक होता है कि उस पर टीकाकारो के विस्तृत विश्लेषण हो जाने के बाद भी लगता है, उनके आन्तरिक अर्थ की शोध और अधिक की जानी चाहिये। जैसे समुद्र की गहराई होती है, वैसे ही इन अक्षरो की अर्थ-गूढता होती हैं। ज्यो-ज्यों समुद्र के जल की गहराई मे एक गोताखोर उतरता जाता है, उसे नई-नई उपलब्धिया दिखाई देती हैं। उन्हे देखकर जिज्ञासावश वह और अधिक गहराई मे उतरता है तो उसे मोतियो की भी प्राप्ति होती है। वैसे ही एक चिन्तक और एक साधक जब आत्मभाव की आराधना के साथ इन अक्षरो की गूढ़ता के भीतर प्रवेश करता है तो उसे ज्ञान की नित-नवीन किरणो का दर्शन होता है। वह ज्यो-ज्यो इन अक्षरों की गहराई मे पैठता जाता है, उसे त्यो-त्यो तत्त्व-मुक्ताओ की उपलब्धि होती जाती है। इन अक्षरो का तत्त्वान्वेषण ही एक दिन जिज्ञासु आत्मा को केवलज्ञान के उच्चतम स्तर तक भी पहुचा देता है।

सूत्ररूप अक्षरो का भव्य प्रयोग आचार्यश्री उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में देखने को मिलता है, जिसके एक-एक सूत्र मे आत्मज्ञान की निधिया भरी हुई हो- ऐसा लगता है। एक-एक सूत्र पर टीकाकारो ने विस्तृत टिप्पणियां लिखी है, फिर भी उन टीकाओ मे पूर्ण अर्थ का प्रकटीकरण हो गया हो- ऐसी बात नही है। तत्त्वचिन्तक ज्यो-ज्यों उन सूत्रो पर गहन चिन्तन करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र का इस रूप मे और अधिक विश्लेषण किया जा सकता है।

महावीर-वाणी ऐसे भव्य अक्षर-प्रयोग की ऐसी निधि है जिस पर चिन्तक चिन्तन करते जायेंगे तब तक ज्ञान की नई-नई किरणें फूटती जाएगी। इन अक्षरो की स्थिति मे प्रकाश देने की जो कला है, उसी कला को दार्शनिक अपने-अपने ज्ञान की परिधि के अनुसार अभिव्यक्त करते हैं, लेकिन यह चिन्तक की आत्मिक क्षमता पर आधारित है कि वह उस कला को कितनी और किस रूप मे अभिव्यक्ति कर पाता है।

भव्य आत्माओं का चिन्तन : अक्षरों का विराट् स्वरूप

द्रव्यरूप से तो अक्षर अक्षर हैं- उन्हे जिस स्थल पर जितने आकार मे लिख देंगे, उनका वैसा स्वरूप दिखाई देगा, किन्तु उनका भावरूप मे

व्यापक एव विराट् स्वरूप उन्ही भव्य आत्माओ के अपने चिन्तन मे प्रकट होता हे, जो उन अक्षरो के मर्म मे प्रवेश करती है। फिर जिस आत्मा की जैसी चिन्तन की क्षमता होती है, उसी के अनुरूप उन अक्षरो की विराटता का दर्शन उस आत्मा को होता है।

किन्तु अन्धकार मे भटकते हुए एक पुरुष को कही प्रकाश की क्षीण रेखा भी दिखाई पड जाए और जिस रूप मे फिर वह उस प्रकाश को पाने के लिये लालायित हो उठता है वैसे ही एक जिज्ञासु आत्मा ज्ञान की एक परत से दूसरी परत उघाडती हुई गहराई मे प्रवेश करती रहती है। उसके अन्धकार के पट टूटते रहते है और ज्ञान का नया आलोक भरता रहता है। तब वह ज्ञान की एक क्षीण रेखा के बल पर अपनी साधना के फलस्वरूप सम्पूर्ण ज्ञानलोक मे स्थित हो जाती है। अक्षरो का विराट् स्वरूप तब उसके समक्ष साक्षात् उभर आता है– वही केवलज्ञान की स्थिति होती हैं। वास्तव मे उपदेश देने की क्षमता का यही स्तर माना गया है। केवलज्ञानी होकर तीर्थंकर चार तीर्थों की स्थापना करते है तथा उन्हे व समग्र विश्व को अपनी सारपूर्ण वाणी से आह्लादित बनाते हैं।

तीर्थंकर-वाणी आत्मिक उच्चता एव उत्कृष्टता की गहराइयो से निकली हुई परमपावन वाणी होती है, जो सूत्ररूप होती हे लेकिन गूढ अर्थभरी होती है। आत्मा की अनन्त गूढता इस वाणी का श्रृगार होती है। ऐसा अक्षरो का विराट् स्वरूप भव्य आत्माओ के चिन्तन से प्रकट होता है तो यही विराट् स्वरूप उनकी पावन वाणी मे ढलकर ससार के समस्त प्राणियो को उनके कल्याण का मार्ग भी दिखाता हे एव प्रबुद्ध आत्माओ की अनन्त समाधि का प्रदाता भी होता हे। जितनी गहरी पेठ, उतनी अधिक समाधि– चिन्तन का ऐसा ही अद्‌भुद आत्मिक आनन्द होता हे जो अनुभव से ही जाना जा सकता हे।

अनश्वर अक्षर : चिन्तनधारा का आनन्द

अक्षर का अर्थ ही अनश्वरता हे, इसीलिये अक्षर को ज्ञान की अमरता का प्रतीक कहा गया हे। दिव्य वाणी का एक–एक सूत्र ज्ञान की एक–एक ऐसी मणि हे, जिसके उज्ज्वल प्रकाश मे कल्याण का मार्ग स्पष्ट दिखाई देता हे। इन अनश्वर अक्षरो की चिन्तनधारा मे एकाकार होकर बहना तो सीखिये, फिर देखिये कि उसका केसा आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता हे?

क्या आप ऐसे आत्मिक आनन्द के अभिलाषी नही हें? यदि हे तो अपन मन को टटोल कर परखिये कि आप आत्मभाव से प्रतिदिन कितने ऐसे

अक्षर पढते हैं और उन पर कितनी गहराई से चिन्तन करते है? मैं अक्सर स्वाध्याय के बारे मे कहता रहता हूँ और आज फिर सकेत देना चाहता हू कि स्वाध्याय की प्रवृत्ति घर-घर और गाव-गाव मे फैलनी चाहिये तथा अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या का प्रारभ ही स्वाध्याय से होना चाहिये। कुछ भी समय दे, लेकिन स्वाध्याय को दैनिक जीवन मे समय मिलना ही चाहिये। गूगा जब गुड खाता है तो उसका स्वाद वही जानता है, वैसे ही चिन्तन का सच्चा आनन्द चिन्तक ही अनुभव करता है। यह वर्णन का नही, स्वानुभव का विषय होता है।

अत चिन्तन का स्वभाव बनाइये तथा महावीर वाणी के अक्षरो का चिन्तन करते हुए अपने जीवन को उन्नतिशील बनाइये तथा निजात्मा मे समाधि की स्थिति पैदा कीजिये। ज्ञान के प्रकाश से आत्मा महान् बनती है।

*****